भामह और वामन के काव्यसिद्धान्त

रमण कुमार शर्मा

[illegible] 27/11

भामह और वामन के काव्यसिद्धान्त

(एक तुलनात्मक अध्ययन)

डॉ० रमण कुमार शर्मा

विद्यानिधि प्रकाशन

दिल्ली

प्रकाशक :
विद्यानिधि प्रकाशन
डी-1061, गली नं० 10,
(समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110094
फोन : 2175638

संस्करण : 1997

मूल्य : 200.00

ISBN : 81-86700-08-0

मुद्रक :
ए-वन ग्राफिक्स,
एक्स-4, गली नं०-2, ब्रह्मपुरी,
दिल्ली-53. फोन : 2183470

शुभाशंसा

डा० रमण कुमार शर्मा मेरे उत्कृष्ट छात्रों में से हैं। उनका यह शोधप्रबन्ध मेरे ही निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। यद्यपि ये स्नातकोत्तर कक्षाओं तक व्याकरण के विद्यार्थी रहे हैं तथापि इन्होंने पी-एच०डी० में साहित्यशास्त्रीय विषय लेकर अत्युत्तम कार्य प्रस्तुत किया है।

डा० शर्मा एक ऐसे विद्वान् हैं जिनके विषय में मैं आधिकारिक रूप से कह सकता हूँ कि इन्होंने मुझसे विद्या ली है। मुझे प्रसन्नता है कि इनका पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है जिसमें जो मैंने कहा है उसकी झलक अवश्य मिलेगी। मैं उनकी सफलता की कामना करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि इनका ग्रन्थ अवश्य प्रतिष्ठा को प्राप्त होगा।

२६ दिसम्बर, १९९६

प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

पीठिका

आचार्य भरत से लेकर लगभग दो सहस्राब्दियों के सुदीर्घ काल में भारतीय मनीषा में काव्य-समीक्षा के विविध पक्षों पर व्यापक विचार हुआ है। वर्तमान सन्दर्भों में उनका अध्ययन केवल पुरातन परम्परा के साधुत्वस्थापन के लिए ही नहीं प्रत्युत परीक्षापूर्वक उनके नवीन आकलन के लिए भी अनिवार्य है क्योंकि सतत परिवर्तित होती हुई विश्लेषणपद्धति काल के दीर्घ व्यवधान के अनन्तर प्राचीन प्रसङ्गों के वास्तविक स्वरूप को तिरोहित सा कर देती है। इससे न केवल उन्हें अधिगम कर पाना ही दुरूह हो जाता है प्रत्युत उनके अभाव में ज्ञान-विज्ञान के विस्तीर्ण सीमाविस्तार में प्रवेश कर पाना भी सुकर नहीं रहता। अतएव प्राचीन विषयों का आधुनिक शैली में पुनराख्यान नवीन आलोक प्राप्त करने के लिए भी सुतराम् उपयोगी है, इस दृष्टि से इसकी प्रासङ्गिकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता।

भामह और वामन के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है। दोनों ही आचार्यों की रचनायें अपने युग में प्रतिष्ठित दो विराधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिन्हें आज की समालोचनाप्रक्रिया में फार्मवाद और कण्टैण्ट्सवाद कहा जा सकता है। फार्मवादी कथनप्रकार को अधिक महत्त्व देते हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिए नवीनतम शब्द style चुना गया है। वामन ने इसे 'शब्दन्यास' कहा और 'रीति' नाम देकर काव्यात्म पद पर प्रतिष्ठित किया है। दूसरा सम्प्रदाय भाववादी है जो काव्य में कथनप्रकार की अपेक्षा कथ्य विषय को अधिक महत्त्व देता है। आज इस प्रकार की आलोचनापद्धति को कण्टैण्ट्सवाद कहा जाता है। यह अभिमत भामह का था। अतएव आज इन दोनों ही समीक्षा-पद्धतियों के स्वरूपनिर्धारण और विकास-विश्लेषण में यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

दूसरे, भामह तो संस्कृत की उपलब्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रारम्भिक

आचार्य हैं ही, वामन से पूर्व भी दक्षिणी परम्परा में केवल दण्डी का ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है परन्तु काव्यादर्श की अपेक्षा काव्यालङ्कार में यह परम्परा अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुई है। वामन क्योंकि कश्मीर में बैठकर काव्यसिद्धान्तों का निर्माण कर रहे थे और वहाँ उन्हें औदीच्य आचार्यों के अधिक विरोध का सामना करना पड़ रहा था अतः दक्षिणी परम्परा के प्रति उनका आग्रह और अधिक प्रखर हो गया था। यही कारण है कि परवर्ती औदीच्य आचार्यों ने दण्डी की अपेक्षा वामन का ही अधिक विरोध किया। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में तो इन दोनों परम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान भी प्रारम्भ हो गया था। अतः इनका मूल रूप ध्वनिपूर्ववर्ती ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। भामह और वामन के ग्रन्थों से एक ओर जहाँ इन विरोधी सम्प्रदायों की मूल मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, दूसरी ओर इनकी पूर्ववर्ती समृद्ध शास्त्रपरम्परा के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सङ्केत मिलते हैं, एवं च इस परम्परा के आलोक में इन आचार्यों का स्थान-निर्धारण कर पाना भी सम्भव हो जाता है।

अतएव सर्वप्रथम 'विषयावतार' शीर्षक से भरत और भामह के मध्यवर्ती अन्तराल में सामान्यतः स्वीकृत समीक्षा सिद्धान्तों के ऊहापोह करने का प्रयास किया गया है। प्रचेतायन, पुलस्त्य, शेष, उतथ्य, मङ्गल, मेधावी और रामशर्मा के अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तरपुराण और भट्टिकाव्य से भी इस परम्परा के विषय में पर्याप्त सङ्केत मिलते हैं। दिङ्नाग को भी कुछ विद्वानों ने आलङ्कारिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि यह निश्चित हो जाता है, तो उन्हें भी इसी काल में रखना होगा। नाट्यशास्त्र के साथ काव्यशास्त्र के सम्बन्धनिर्धारण की दृष्टि से भी यह युग महत्त्वपूर्ण है।

प्रबन्ध का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक मान्यताओं का अनुशीलन है तथापि संक्षेप में तुलनीय दोनों आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। वामन का समय लगभग निश्चित है, वे कश्मीरनरेश जयापीड के मन्त्री थे। वृत्ति की तलाश में वे कश्मीर चले गये थे परन्तु सिद्धान्त के स्तर पर वे दक्षिण भारतीय परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। भामह उनसे पूर्ववर्ती हैं, वे मूलतः कश्मीरी ही थे। उनके समय और जीवन के साथ जुड़ी

हुई अनेक समस्याओं की सूक्ष्मता में न जाकर बहुमत के साथ उन्हें दण्डी के निकट पूर्ववर्ती लगभग ६०० ई० में मान लिया गया है। इस प्रकार भामह और वामन के मध्य भी कम से कम २०० वर्षों का अन्तराल मानना होगा।

काव्य–स्वरूप शीर्षक के अन्तर्गत काव्य और शास्त्र से जुड़े हुए सामान्य प्रश्नों–शास्त्र का अनुबन्धचतुष्टय, काव्यहेतु, काव्य (शरीर और आत्मा) तथा काव्यभेदों का समीक्षात्मक और तुलनात्मक अध्ययन है। भामह अलङ्कारों के मूल में वक्रता तथा वामन रीति के साध्य रूप में सौन्दर्य को काव्य का सर्वस्व मानते हैं। अत: इनके सिद्धान्त को भी क्रमश: वक्रोक्तिवाद तथा सौन्दर्यवाद कहा जा सकता है।

भामह की वक्रता और वामन के सौन्दर्य की पहली शर्त काव्यबन्ध की निर्दोषता है। यह काव्यत्व से पूर्व की अनुवीक्षा है, अत: स्वरूपाधायक न होने पर भी काव्य के लिए परिहार्य दोषों के विवेचन के लिए एक पूर्ण अध्याय समर्पित किया गया है क्योंकि दोनों ही आचार्य भी दोषहान के प्रति पर्याप्त सतर्क थे।

उपादेय तत्त्वों में गुण नित्य स्थिति से काव्यशोभा के उत्पादक हैं। रीति गुणात्मा होकर ही काव्यत्व का आधान कर पाती है। गुणात्मक स्थिति के आधार पर ही वैदर्भ, गौड और पाञ्चाल काव्यमार्गों में विभेद किया जाता है। भामह दैशिक सीमाओं के आधार पर रीतियों के इस विभाजन को उचित नहीं मानते थे। वे सम्भवत: गुण और अलङ्कारों के भेद को भी स्वीकार नहीं करते। ''रीति और गुण'' नामक विमर्श में रीति के सामान्य स्वरूप और भेद तथा गुण–रीति, गुणालङ्कार और गुण–रस की परस्पर सङ्कुलित मान्यताओं पर विचार किया गया है।

अलङ्कारों के सामान्य स्वरूप, उनके वर्गीकरण के आधार तथा विभिन्न अलङ्कारविधाओं पर एक सम्पूर्ण विमर्श व्यय किया गया है। वामन प्रधान रूप से इसे सौन्दर्य तथा गौण रूप से सौन्दर्यसाधनरूप में भी देखते हैं। भामह ने इसके शब्दार्थमूलक तथा वक्रस्वभावोक्तिमूलक वर्गीकरण की ओर सङ्केत किया है तथापि इसके व्यवस्थित विवेचन का सर्वप्रथम श्रेय वामन को ही जाता है। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में यह विभाजन शब्द –मूलक तथा उपमामूलक

अलङ्कारों के रूप में किया गया है। उपमा के प्रति दक्षिण भारत के आचार्यों का आग्रह प्रारम्भ से ही रहा है।

नाट्य से स्वतन्त्र होकर नागरकगोष्ठियों में विकसित होते हुए काव्यशास्त्र पर उस काल में अत्यन्त प्रचलित व्याकरण, न्याय और मीमांसा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। काव्यालङ्कार के षष्ठ परिच्छेद तथा काव्यसूत्रवृत्ति के पञ्चम अधिकरण का शब्दशुद्धिविवेचन व्याकरण के काव्यशास्त्र पर प्रभाव का सूचक है। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होकर भी कुछ शब्द कवि के अभिलषितार्थ का वहन नहीं कर पाते। इसी दृष्टि से यहाँ साधु शब्दों की काव्यप्रयोगयोग्यता पर विचार किया गया है। निष्कर्ष के रूप में इस तुलनात्मक अध्ययन की निर्गलित उपलब्धियों की ओर सङ्केत है। सम्पूर्ण विमर्श में अनावश्यक विस्तार से बचने का प्रयास है परन्तु यथासम्भव विवेचनीय विषयों को छोड़ा भी नहीं गया।

सर्वथा मौलिक तो शब्दब्रह्म भी नहीं, अत: प्रबन्ध में केवल मौलिकता का दावा करना दु:साहस ही होगा। उन समस्त आचार्यों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिन्होंने भरत के अनिश्चित काल से लेकर आज बीसवीं शती के उत्तरार्ध तक काव्यशस्त्र के क्षेत्र में कुछ भी योगदान किया है। समय, स्थान और अपनी क्षमता के अनुसार जो भी ग्रन्थरत्न उपलब्ध हो सके, उन्हीं के अनुशीलन से मुझे विवेचन की यह दृष्टि मिली है।

यह प्रबन्ध मूल रूप से दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। काव्यशास्त्र में मेरी आसक्ति, प्रस्तुत विषय के चयन की प्रेरणा तथा समय-समय पर कुशल और वैदुष्यपूर्ण निर्देशन, इन सभी के लिए श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का कृतज्ञ हूँ। अपने स्वर्गप्रयाण से लगभग एक सप्ताह पूर्व ही उन्होंने इस ग्रन्थ के लिए शुभाशंसा लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। यह ग्रन्थ उन्हीं की पुण्य स्मृति में सादर समर्पित है। उन सभी गुरुजनों का भी आभारी हूँ जिनकी शुभकामनाओं से ही यह कार्य पूर्ण हुआ है। विद्यानिधि प्रकाशन के सौजन्य से यह पुस्तकाकार रूप में आ पाया है, एतदर्थ वह भी धन्यवादार्ह है।

रमण कुमार शर्मा

विषयानुक्रमणी

सङ्केत–सूची

अ.अ.	–	अष्टाध्यायी
अ.को	–	अमरकोशः
अ.कौ.	–	अलङ्कारकौस्तुभः
अ.द.	–	अभिनयदर्पणः
अ.भा.	–	अभिनवभारती
अ.रा.	–	अनर्घराघवः
अ.शा.	–	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अ.शे०	–	अलङ्कारशेखरः
अ.स.	–	अलङ्कारसर्वस्वम्
ए.	–	एकावली
क.रा.मा.	–	कविराजमार्गः
का.अ.	–	काव्यालङ्कारः (भामह)
का.अ.(रु.)	–	काव्यालङ्कारः (रुद्रट)
का.अनु.	–	काव्यानुशासनम्
का.आ.	–	काव्यादर्शः
का.का.	–	काव्यालङ्कारकारिका
का.धे.	–	कामधेनुः
का.प्र.	–	काव्यप्रकाशः
का.मी.	–	काव्यमीमांसा
का.स.	–	काव्य समीक्षा
का.सा.सं.	–	काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रहः
का.सू.	–	कामसूत्रम्
का.सू.वृ.	–	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः
कु.आ.	–	कुवलयानन्दः
कु.प्र.टी.	–	कुसुमप्रतिमा टीका
च.आ.	–	चन्द्रालोकः

चि.मी.	–	चित्रमीमांसा
ध्व.आ.	–	ध्वन्यालोकः
ध्व.लो.	–	ध्वन्यालोकलोचनम्
ना.शा.	–	नाट्यशास्त्रम्
नि.	–	निरुक्तम्
प्र.रु.	–	प्रतापरुद्रीयम्
बा.बो.	–	बालबोधिनी
म.भा.	–	महाभाष्यम्
मी.सू.	–	मीमांसासूत्रम्
य.ति.च.	–	यशस्तिलकचम्पू
व.जी.	–	वक्रोक्तिजीवितम्
वा.प.	–	वाक्यपदीयम्
वि.ध.पु.	–	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
वृ.र.	–	वृत्तरत्नाकरः
व्य.वि.	–	व्यक्तिविवेकः
र.ग.	–	रसगङ्गाधरः
र.वं.	–	रघुवंशम्
रा.च.मा.	–	रामचरितमानस
रा.त.	–	राजतरङ्गिणी
ल.वृ.	–	लघुवृत्तिः
शृं.प्र.	–	शृङ्गारप्रकाशः
श्लो.वा.	–	श्लोकवार्तिकम्
स.क.	–	सरस्वतीकण्ठाभरणम्
सं.	–	संस्करण
सा.द.	–	साहित्यदर्पणः
सा.सु.सि.	–	साहित्यसुधासिन्धुः
सु.अ	–	सुभाषितावली
ह.च.	–	हर्षचरितम्

प्रथम विमर्श

विषयावतार

भाव और अभिव्यक्ति की धाराओं का समानान्तर प्रवाह विश्ववाङ्मय के इतिहास की कहानी है। जीवन के विविध संवेगों से विकल कवि की भावमय प्रतिभा जब सिसृक्षा के लिए व्याकुल होकर शब्दार्थमय अभिव्यक्ति के लिए प्रवृत्त होती है तो रचना का उद्भव होता है और यही रचना जब भावक के हृद्भावों को आन्दोलित करती है और वह उसके विवेचन में प्रस्तुत होता है तो उसकी अनुजा आलोचना जन्म लेती है। इस दृष्टि से आदिकाव्य के अनुपद ही काव्यशास्त्र के उद्भव की कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती। अतएव भरतोक्त नाट्य की दैवी उत्पत्ति की कल्पना यदि अतिरञ्जित भी हो तो राजशेखर द्वारा प्रदत्त विभिन्न काव्याधिकरणों के अधिकृत आचार्यों की सूची[१] की ऐतिहासिकता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता यद्यपि आज हमारे पास उन सभी आचार्यों की रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। केवल भरत का नाट्यशास्त्र पूर्ण रूप से उपलब्ध हो पाया है परन्तु इसी के साक्ष्य पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इससे पूर्व भी आलोचनाशास्त्र की महती परम्परा अवश्य विद्यमान थी। सुवर्णनाभ और कुचुमार का उल्लेख कामशास्त्र के आचार्यों के रूप में कामसूत्र में भी उपलब्ध होता है।[२] अभिनवभारती और अग्निपुराण में भरत के पूर्ववर्ती किसी काश्यप

---

१. तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकरणं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमार इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

-का० मी०, प्रथमोऽध्यायः

२. का० सू०, १/१/१४ एवं १/१/१७

नामक आचार्य का भी उल्लेख है[१] परन्तु उनकी कृतियों के अभाव में उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं पर कोई टिप्पणी कर पाना सम्भव नहीं है। काव्यादर्श की हृदयङ्गमा टीका में उनके साथ वररुचि का भी अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख है।[२] अभिनवगुप्त नन्दिकेश्वर की रचना से अवश्य परिचित थे।[३] इन्हें रस सिद्धान्त का आदि प्रवर्त्तक माना गया है। उनके नाम से एक अभिनयदर्पण नामक ग्रन्थ का प्रकाशन भी हुआ है[४] परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ की पूर्ववर्त्तिता भी सन्दिग्ध ही है। अतः भरत से पूर्ववर्ती इस परम्परा की प्रामाणिकता जब तक सुनिश्चित नहीं हो जाती, नाट्यशास्त्र को ही काव्यशास्त्र की परम्परा का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ मानना होगा यद्यपि इसमें वर्णित सिद्धान्त कथमपि आदि नहीं कहे जा सकते।

काव्यमीमांसा में विभिन्न विषयों के साथ जिन-जिन आचार्यों का नाम जोड़ा गया है, उस तत्त्व की उपलब्धि जब हुई तभी उनकी स्थिति भी माननी चाहिए। जैसे-जैसे इतिहास के पृष्ठ खुलते जायेंगे, इनकी प्रामाणिकता और पुष्ट होती जायेगी। दूसरी ओर इस विवेचन से एक अन्य आकर्षक तथ्य भी प्रकाश में आता है कि तत्त्वविशेष के साथ जिस आचार्य का नाम जोड़ा गया है कदाचित् यह भी आवश्यक नहीं कि वह उसका प्रथम उद्गाता ही हो। उदाहरण के लिए रूपक को भरत के नाम के साथ जोड़ा गया है। केवल उन्हीं का नाट्यशास्त्र उपलब्ध भी हो पाया है परन्तु अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख स्वयं भरत ने ही किया है।[५] सत्य तो यह है कि जिस आचार्य ने उस तत्त्व का सर्वाङ्ग निरूपण किया, अथवा जो उस विषय का प्रामाणिक आचार्य था, उसी को उसका प्रथम व्याख्याता मान लिया गया, जैसे वह विषय उसे साक्षात् दैवी कृपा से ही प्राप्त हुआ हो।

---

१. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २-३ से।

२. पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य.................।
-का० आ० १/२ पर हृदयङ्गमा टीका।

३. अ० भा०, अध्याय २९.

४. संपादक, वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकशन, इलाहाबाद, १९६७

५. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः।
सत्यधर्मतयायुक्तैः कञ्चित् कालमवस्थितैः।।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्। -ना० शा०, ३६/ ७१-७२

उस काल में सम्भवत: काव्य के एक-एक पक्ष को लेकर ही प्राय: ग्रन्थरचना की जाती थी। भामह ने रामशर्मा को प्रहेलिका के प्रामाणिक आचार्य के रूप में उद्धृत किया है[१], यद्यपि वे स्वयं उसमें काव्यत्व नहीं मानते।[२] इसी प्रकार प्रचेतायन ने अनुप्रास, चित्राङ्गद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष और उतथ्य ने अर्थश्लेष का निरूपण किया। भामह, दण्डी और मेधावी आदि के ग्रन्थ काव्य के समग्र पक्षों पर मौलिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करने के कारण ही अधिक प्रसिद्ध हुए और छोटे-छोटे ग्रन्थ जो आलोचना के किसी एक पक्ष पर ही विचार करते थे, उनके समक्ष निष्प्रभ हो गये और धीरे-धीरे उनकी मान्यता भी समाप्त हो गयी, परन्तु उनकी कीर्ति राजशेखर के समय तक भी सुरक्षित थी।

काव्य ग्रन्थों का सत्त्व होने पर भी प्रारम्भिक काल में आलोचना के स्तर पर नाट्य और नाट्याङ्गों का ही विवेचन होता था। काव्य की समीक्षा नाट्यशास्त्र में आनुषङ्गिक रूप से ही की जाती थी। भरत ने वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में ही काव्यलक्षण, गुण, दोष, अलङ्कार आदि विषयों पर विचार किया था। अभिनयदर्पण में भी इसी सन्दर्भ में 'काव्य' संज्ञा का व्यवहार किया गया है।[3]

बाद में जाकर जिससे काव्यशास्त्र विकसित हुआ, वह पर्याप्त सामग्री भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती है। भरत के ही सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भट्टनायक ने कवि के अभिधाव्यापारप्रधान कर्म में काव्यसंज्ञा का व्यवहार किया था।[४] यह व्यापार शास्त्र के शब्दप्राधान्य और आख्यान के अर्थ-प्राधान्य के विपरीत इन दोनों ही के गुणीभाव में पर्यवसित होता है।[५] भामह ने भरत के ही विवेचन को आगे बढ़ाते हुए 'सहित शब्दार्थ' में काव्यत्व

---

१. प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे। -का० अ०, २/१९

२. वही, २/२०

३. वाचा विरचित: काव्यनाटकादि तु वाचक:।- अ० द०, कारिका ३९

४. अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्। -अ० भा०, १६/१ में उद्धृत।

५. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु:।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयो:।।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्। ध्व० लो० प्रथमाध्याय में उद्धृत।

माना।[१] उनके 'सहित' शब्द का ही विकास कुन्तक में 'साहित्य' के रूप में हुआ।[२] मुकुलभट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने संभवतः सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया, राजशेखर में तो यह उपलब्ध होता ही है।[३] अब तक इस शास्त्र के लिए 'साहित्य' संज्ञा प्रसिद्ध हो गयी थी।

शब्दार्थ का यह सहभाव उक्तिरूप होता है परन्तु कवि की उक्ति के साथ 'सु' विशेषण भी लगाया गया क्योंकि यह दोषों से रहित और यथासम्भव गुणों से युक्त होती है। गुण और दोष सम्बन्धी धारणायें अब तक परस्पर सापेक्ष ही थीं। दोषों के विपर्यस्त रूप में गुणों की कल्पना नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती है।[४] वामन ने ठीक इसके विपरीत दोषों को गुणों का विपर्यय कहा था।[५] ऐसा इन दोनों की परस्पर स्वभावविरुद्धता के कारण ही कहा जाता था। इस सूक्ति को ही बहुत समय तक काव्य के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता रहा। किन्हीं उक्तिगर्भ नामक आचार्य ने इसी उक्ति तथा उसके विविध शब्द और अर्थरूपों का विशद विश्लेषण औक्तिक प्रकरण में किया था।[६] भामह ने इसके साथ 'वक्र' विशेषण लगाकर इसे अलङ्कारत्व के प्राणभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा भोज ने समस्त काव्यात्मक कथनों को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति के रूप में वर्गीकृत किया[७] परन्तु काव्य के पर्याय के रूप में इसका प्रयोग क्रमशः लुप्त होता चला गया पुनरपि सहोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति आदि उक्तिमूलक अलङ्कारों के रूप में इसके अवशेष अभी भी सुरक्षित हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र में अलङ्कारों की संख्या भी एक से बढ़कर चार

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। -का० अ०, १/ १६

२. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। -व० जी०, १/१७

३. शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। - का० मी०, पृ० ५

४. एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।। -ना० शा० १६/ ९६

५. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। -का० सू० वृ०, २/१/१

६. ...औक्तिकमुक्तिगर्भः.........। का० मी०, प्रथम अध्याय।

७. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।। स० क० ५

तक पहुँच गयी थी। इनमें से यमक का स्वरूप शब्दाभ्यासात्मक था।[१] स्पष्टतः शेष तीन उपमा, रूपक और दीपक शब्द से सम्बद्ध नहीं थे (तो इनका सम्बन्ध निश्चय ही अर्थ के साथ था)। बाद में जो अलङ्कारों का शब्द और अर्थ के रूप में वर्गीकरण हुआ, उसका बीज यहीं निक्षिप्त हो चुका था। इन प्रमुख अलङ्कारों के अतिरिक्त भरत ने ३६ लक्षणों के प्रयोग पर भी बल दिया है।[२] यह अलङ्कारों की अपरिपक्व स्थिति है, जिसे अलंभाव की पूर्वावस्था भी कहा जा सकता है। इनका सम्बन्ध वस्तुतः नाटकीय संवादों से ही है क्योंकि वहाँ अलङ्कारों की स्फुट अभिव्यक्ति नहीं हो पाती परन्तु व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अलंतत्त्व इनमें समाहित अवश्य रहता है।

भरत के नाट्यशास्त्र के बाद सीधे भामह का काव्यालङ्कार उपलब्ध होता है जो विशुद्ध रूप से काव्यसिद्धान्तों का निर्वचन करता है। इसके मध्य का काल प्रायः तिमिराच्छन्न ही है परन्तु बाह्य साक्ष्यों से कुछ आचार्यों अथवा रचनाओं का उल्लेख अवश्य मिलता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें से भी कुछ सम्भवतः इसी काल में रहे होंगे। प्रचेतायन को अनुप्रास का प्रवक्ता बताया गया है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख नहीं जो काव्यालङ्कार में पाँच प्रमुख अलङ्कारों के वर्ग में परिगणित है। चित्र, शब्दार्थश्लेष, अतिशय और वास्तव के उद्भावक भी क्रमशः चित्राङ्गद, शेष, उतथ्य, पाराशर और पुलस्त्य हैं। चित्र तथा वास्तव का उल्लेख तो भामह के काव्यालङ्कार में भी नहीं मिलता।

इसी काल में मङ्गल नामक एक आचार्य का उल्लेख भी मिलता है। काव्यमीमांसा में चार स्थलों पर इन्हें उद्धृत किया गया है। ये काव्यहेतुओं के संदर्भ में व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते थे।[३] वहाँ काव्यपाक के विषय में भी इनके विचारों का उल्लेख है। इनका अभिमत सुप्तिङ्व्युत्पत्ति रूप सौशब्द्यवाद है[४], जिसका उल्लेख भामह ने भी किया है।[५] हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन तथा काव्यप्रकाश की सोमेश्वरकृत टीका में उल्लेख है कि

१. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्। -ना० शा०, १६/६६
२. काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।। -ना० शा०, १६/१६९
३. "व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मङ्गलः। -का० मी०, अध्याय५
४. सुपां तिङां च श्रवः, यैषा व्युत्पत्तिः, इति मङ्गलः।। - वही
५. का० अ०, १/१५

इन्होंने ओजो गुण की विवेचना में भरत के विरुद्ध अपना मत दिया था।[१] इन उद्धरणों के आधार पर प्रतीत होता है कि ये दक्षिण भारतीय परम्परा के ही आचार्य थे।

भामह ने रामशर्मा का उल्लेख किया है जिन्होंने अच्युतोत्तर नाम के ग्रन्थ में प्रहेलिका का वर्णन किया।[२] ये सम्भवतः कवि भी थे। इनका एक पद्य उपमादोषों के प्रसङ्ग में उद्धृत किया गया है।[३] मेधावी को भामह भी प्रामाणिक मानते थे। इन्हीं के अनुकरण पर उन्होंने सात उपमादोषों का वर्णन किया।[४] यथासंख्य अलङ्कार का उन्होंने संख्यान नाम से उल्लेख किया था।[५] संभवतः वे इसके प्रवर्त्तक भी रहे हों।

इस अन्धकारयुग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना विष्णुधर्मोत्तर पुराण[६] प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुकरण करती है यद्यपि रूपकों की संख्या यहाँ १० की अपेक्षा १२ तथा रसों की संख्या ८ की अपेक्षा ९ प्राप्त होती है। कुल निरूपित अलङ्कारों की संख्या १८ है। इसी तर्क के आधार पर प्रो० काणे ने इस ग्रन्थ को भरत और भामह के मध्य रखा।[७] एक सम्पूर्ण अध्याय प्रहेलिकाओं के वर्णन में व्यय किया गया है। काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का लगभग १००० कारिकाओं में निरूपण है। यह समीक्षा के इतिहास का वह काल है जब काव्यचर्चा वाचिक अभिनय से तो स्वतन्त्र हो गयी थी परन्तु इन दोनों शास्त्रों की पृथक्-पृथक् स्थापना अभी नहीं हो पायी थी।

भामह के समय में निश्चित रूप से शास्त्रों अथवा कलाओं को उपजीव्य बनाकर भी कुछ रचनायें लिखी जाती थीं। इसी बात को दृष्टि में

---

१. का० अनु०, चतुर्थ अध्याय तथा का० प्र०, सोमेश्वरकृत टीका, अष्टम उल्लास।
२. प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे। -का० अ०, २/१९
३. वही, २/५८
४. त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। -वही, २/४०
५. संख्यानमिति मेधावी.........। - वही, २/८८
६. वि० ध० पु०, खण्ड ३
७. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ९०

रखकर काव्यालङ्कारकार ने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से काव्य का चतुर्धा विभाग किया था।[1] संभवतः भट्टिकाव्य और इस जैसी अन्य भी कुछ रचनायें भामह के समक्ष रही होंगी। भट्टिकाव्य के चार सर्गों में काव्यविषयक सामान्य सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ उन्होंने ३८ अलङ्कारों, माधुर्य गुण, भाविक अलङ्कार, जिसे उस समय प्रबन्धविषयक गुण कहने की प्रथा थी तथा भाषासम के उदाहरण दिये हैं।

काव्यचर्चा अब तक नाट्यशास्त्र से पृथक् अस्तित्व बना चुकी थी क्योंकि इसके उपकरणभूत महाकाव्य, मुक्तक और गद्य रचनायें व्यापक स्तर पर स्वतन्त्र रूप से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में लिखी जाने लगी थीं।[2] गद्य के भेदों में कथा और आख्यायिका का प्रचलन था।[3] यह विभाजन लगभग सर्वमान्य ही हो गया था क्योंकि इसके विरोध में दिये गये दण्डी के प्रबल तर्क भी इस प्रवाह को रोक नहीं पाये। इतना ही नहीं कला और शास्त्र को आश्रय बनाकर भी सर्गबद्ध रचनाओं का प्रणयन किया जाता था।[4] केवल वाचिक अभिनय में ही इनका पूर्ण विवेचन कर पाना अब सम्भव नहीं रहा था।

परन्तु इसके स्वतन्त्र होते ही अलङ्कारशास्त्र में वर्णनीय विषयों का अभाव सा हो गया। सिद्धान्तों की चर्चा उस समय काव्य-गोष्ठियों में की जाती थी, जहाँ व्याकरण, न्याय और मीमांसा जैसे शास्त्रों का वर्चस्व था। स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हुए शास्त्र पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भामह और वामन के ग्रन्थों में शब्दशुद्धि परिच्छेद व्याकरण के काव्यशास्त्र पर स्पष्ट प्रभाव का सूचक है। अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। संभवतः उस समय के सम्प्रति अनुपलब्ध कुछ ग्रन्थों में इसका विवेचन हुआ हो। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इस विषय की उपलब्धि इसका प्रमाण है। व्याकरण के ऋण को अन्यथा भी काव्यशास्त्री स्वीकार करते रहे हैं। भामह ने न्याय के प्रभाव से न्यायदोषों के लिए भी एक स्वतंत्र परिच्छेद व्यय किया,

---

१. का० अ०, १/१७
२. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। - वही, १/१६
३. ....तथैवाख्यायिकाकथे। -का० अ०, १/१८
४. कलाशास्त्राश्रयञ्चेति। वही, १/१७

दण्डी को यह अच्छा नहीं लगा।[१] बाद में भी किसी ने इसे नहीं माना। वामन ने स्तनादि की द्वित्वाविष्टता जैमिनिमत के प्रभाव से ही स्वीकार की।[२] डॉ॰ देशपाण्डे तो लक्षणों को भी निरुक्त और मीमांसा से आया हुआ मानते हैं।[३]

भरत और भामह के मध्य हुआ सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षणों की अलङ्कारों के रूप में परिणति थी। अभिनवगुप्त ने भट्टतोत के प्रमाण से इन लक्षणों में ही विभिन्न अलङ्कारों के बीजभाव की ओर सङ्केत किया है[४] परन्तु प्रत्येक लक्षण ही अलङ्कार के रूप में विकसित हो सका हो, ऐसा नहीं है। पुनरपि अलङ्कारसंख्या के विस्तार में इसका योग अवश्य रहा है। दण्डी ने भी ऊर्ध्वबाहु होकर नाट्य के सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत माना।[५] भरत के चार अलङ्कार काव्यालङ्कार तक ४१ की संख्या तक पहुँच गये। भामह ने उनका निरूपण विभिन्न वर्गों में किया है जिन्हें अलङ्कारों के ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों के रूप में देखा जाना चाहिए। अलङ्कारों का विवेचन ज्यों-ज्यों समृद्ध होता गया, उनकी भेदसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उनके परस्पर भेदक आधार बहुत सूक्ष्म हो गये। अतः समय-समय पर उन्हें व्यवस्थित करने के प्रयास भी होते रहे। भामह के ग्रन्थ में शब्दार्थ तथा वक्रस्वभावोक्ति[७] के रूप में दो आधारों की ओर सङ्केत मिलता है परन्तु व्यवस्था और संयोजन की दृष्टि से सर्वप्रथम वामन के प्रयास को ही प्रशस्त कहा जा सकता है। उन्होंने यह विभाजन शब्द और उपमामूलक अलङ्कार के रूप में किया। यह उस समय में उपमा के असाधारण महत्त्व का सूचक है। विशेष रूप से दक्षिण के आचार्यों में इस

---

१. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढ़ेन किं फलम्।। - का॰ आ॰, ३/१२७

२. अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जातेः।..........तद्धि जैमिनीया जानन्ति।
वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः।। - का॰ सू॰ वृ॰, ५/१/१७ वृत्ति।

३. ग॰ त्र्य॰ देशपाण्डे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ॰४४

४. उपाध्यायमतं तु-लक्षणबलात् अलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। -अ॰ भा॰, १६/४०

५. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः।। -का॰ आ॰, २/३६६

६. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः। - का॰ अ॰, १/१५

७. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। - वही, १/३०

अलङ्कार की मान्यता बहुत थी। दण्डी ने भी उपमा का निरूपण सबसे पहले किया था।

दृश्यकाव्य अभिनय के माध्यम से रसानुभूति का साक्षात् साधन था। सर्गबन्ध के लिए रस कोई आवश्यक शर्त नहीं थी पुनरपि उस काव्य को उत्तम माना जाता था जहाँ शृङ्गारादि रस स्पष्ट रूप से उद्दीप्त हों। गुण, अलङ्कार और लक्षणों का प्रयोग रससापेक्ष ही इष्ट था।[१] श्रव्यकाव्य में जब रस का स्थान अलङ्कारों को मिला तो रसवत्ता को एक अलङ्कार ही मान लिया गया।[२] अलङ्कारों की स्थिति जब काव्य में गौण हुई तो इसे नित्यस्थिति गुण के साथ जोड़ दिया गया।[३] धीर-धीरे जब काव्यचिन्तन और अधिक सूक्ष्म तथा गम्भीर हुआ तो यही काव्यात्मपद पर प्रतिष्ठित हुआ।[४] नाट्शास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य यद्यपि रस ही नहीं है तथापि इस सन्दर्भ में यहाँ विवेचित ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' सूत्र अब तक रसविवेचन का उपजीव्य बना हुआ है। यहाँ आठ रसों का विवेचन है। शान्त को भी मिलाकर यह संख्या नौ हो जाती है।

नाट्य से स्वतन्त्र काव्य के अलंभाव को अभिव्यक्त करने के लिए इस काल में वक्रता, शोभा, चारुता, सौन्दर्य, अलङ्कृति आदि शब्द प्रचलित थे। भामह ने वक्रता, दण्डी ने शोभा तथा वामन ने सौन्दर्य को चुना। अलङ्कार संज्ञा तो इतनी प्रसिद्ध हुई कि बहुत समय तक शास्त्र का नाम ही इसके नाम से चलता रहा।

उक्ति को सुशोभित करने के लिए दोषहान आवश्यक था। प्रायः सभी आचार्य इनके यथासम्भव त्याग के प्रति पर्याप्त सतर्क थे। दण्डी ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया था कि एक भी दोष काव्य में नहीं रहना चाहिए अन्यथा वह श्वित्र के दाग से सुन्दर मुख की तरह मलिन हो जाता है।[५]

---

१. (क) प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्। -ना० शा०, १७/१०८
(ख) नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते। -वही,
२. रसवद्दर्शितस्पष्टभृङ्गारादिरसं यथा।- का० अ०, ३/६
३. दीप्तरसत्वं कान्तिः। -का० सू० वृ०, ३/२/१५
४. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। -सा० द०, १/३
५. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।- का० आ०, १/७

भामह तो कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं।[१] परन्तु वही दोष कभी-कभी गुण भी बन जाता है, इस बात को भामह तक पहचान लिया गया था।[२] इसी के आधार पर उत्तरवर्ती काल में दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व की कल्पना की गयी।

दोषहान के साथ-साथ काव्यशोभा का उपकार करने वाले धर्म गुण और अलङ्कार थे। गुणों का स्वरूप दोषों का विपर्ययरूप था। नाट्शास्त्र में इनकी संख्या दस मानी गयी थी। वामन ने पुनः इन्हें शब्द और अर्थ के रूप में द्विविध मानकर इनकी संख्या बीस कर दी। इनसे पहले संभवतः भरत का दशगुणवाद ही उस समय अधिक प्रचलित था। भामह इसका अपवाद कहे जा सकते है। उन्होंने केवल प्रसाद, माधुर्य और ओज का विवेचन किया।[३] इनकी वास्तविक प्रतिष्ठा रसध्वनिवाद में जाकर हुई। भामह के गुण वस्तुतः समास की स्थिति पर आधारित थे परन्तु उनके निकट परवर्ती दण्डी ने भरतोक्त दशगुणवाद को ही स्वीकार किया और स्थिति के आधार पर इन्हें वैदर्भ तथा गौड मार्गों का नियामक माना।[४] उनसे पूर्व भामह ने ऐसा मानने वाले आचार्यों के मत का विरोध किया था।[५]

निश्चित रूप से उस समय भारतीय काव्यशास्त्र दो समानान्तर धाराओं में विकसित हो रहा था। एक धारा औदीच्य विद्वानों की थी तो दूसरी परम्परा में दाक्षिणात्य आचार्य थे जो अपनी भिन्न समीक्षापद्धति को अपनाये हुए थे। इसी परम्परा में मङ्गल, दण्डी, वामन, भोज, प्रतिहारेन्दुराज, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य हुए। भामह, उद्भट, आनन्दवर्धन और मम्मट औदीच्य परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। समीक्षाशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही इन दोनों में विरोध के सङ्केत मिलते हैं। भामह स्थान-स्थान पर अपने से भिन्न किसी परम्परा का खण्डन करते देखे जाते हैं जो शब्द-

---

१. कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। -वही, १/१२

२. वही, १/५४-५५

३. वही, २/१-३

४. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। -वही, १/४२

५. वही, १/३१-३५

सङ्घटना को अधिक महत्त्व दिया करती थी। भामह ने इसके लिए 'सौशब्द्य' शब्द का प्रयोग किया।[१] सौशब्द्य का अभिप्राय सुन्दर पदविन्यास है, जिसकी चरम प्रतिष्ठा वामन के रीतिवाद में जाकर हुई। आधुनिक समालोचना की शब्दावली में इसे 'फार्मवाद' कहा जा सकता है। भामह यद्यपि शब्दार्थ दोनों में ही काव्यत्व मानते हैं तथापि अर्थ को वे अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि उनके अनुसार अलङ्कारों का प्राणभूत तत्त्व वक्रोक्ति शब्दार्थोभयमूलक होकर भी प्रधानतया अर्थ का ही विभावन करता है। 'सौशब्द्य' पद्धति से अर्थ का संस्कार नहीं हो पाता।[३] यह कण्टैण्ट्सवाद है जिसकी चरम परिणति ध्वनि सिद्धान्त के रूप में हुई।

दाक्षिणात्य परम्परा गुणों को अधिक महत्त्व देती थी, औदीच्य परम्परा में यही स्थिति अलङ्कारों की थी। इस परम्परा के आचार्य गुण और अलङ्कारों के भेद को भी स्वीकार नहीं करते थे।[४] दण्डी और वामन के मध्य आचार्यों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो काव्य में गुण और अलङ्कार का भेद क्रमशः उनकी समवाय और संयोग स्थिति के आधार पर किया करता था।[५] वामन ने इसके भेद को और अधिक स्पष्ट किया तथा इस विवेचन को अपनी मौलिक चिन्तना का स्पर्श प्रदान किया। गुणों को उन्होंने काव्यशोभा के कर्त्ता तथा अलङ्कारों को उसका उत्कर्षक माना।[६] मान्यताओं का यह संघर्ष उद्भट और वामन में चरम रूप में दृष्टिगोचर होता है।

नाटक में इतिवृत्त ही काव्य का शरीर था[७] जिसे लोकधर्मी और

---

१. तदेतदाहुः सौशब्द्यम्........।- का० अ०, १/१५

२. .... अनयार्थो विभाव्यते..................।-वही, २/८५

३. नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी..............।- वही, १/१५

४. ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिका-प्रवाहेणैवैषां भेदः।।- का० प्र०, अष्टम उच्छ्वास में उद्धृत।

५. एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः।-का० प्र०, अष्टम उच्छ्वास में उद्धृत।

६. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।-का०सु०वृ०, ३/१/१-२

७. इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।

नाट्यधर्मी अभिनय से प्रस्तुत किया जाता था। काव्यविवेचना में यही अभिनवगुप्त के अनुसार स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में उभर कर आये।[१] भामह इन्हें ही अलङ्कारों का आधार मानते थे। फिर भी वक्रोक्ति के प्रति उनका आग्रह स्पष्ट है। वक्रता का प्रसङ्ग आते ही वे भावुक हो उठते हैं और इसे ही समस्त अलङ्कारों का मूल तक कह देते हैं परन्तु स्वभावोक्ति में भी काव्यत्व का अपलाप वे नहीं कर सके। दण्डी ने तो स्वभावोक्ति को और भी अधिक महत्त्व दिया, जिसका शास्त्रों में तो साम्राज्य है ही काव्य में भी यह समान रूप से इष्ट है।[२]

भामह और दण्डी लगभग समकालीन थे। काव्यसमीक्षा के अधिकतर सिद्धान्त इस समय कवि-गोष्ठियों में चर्चाओं से उभरकर आते थे। कवि भावकों के समक्ष अपनी रचनायें सुनाया करते थे। समीक्षकों द्वारा उन पर टिप्पणियाँ की जाती थीं। राजशेखर के समय तक भी इसके पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते हैं। काव्यमीमांसा में कहा गया है कि पुस्तक-मात्र में न्यस्त काव्यरचनायें घर-घर में मिल जायेंगी[३] परन्तु तब तक उनका कोई उपयोग नहीं है जब तक वे भावकों के समक्ष गोष्ठी में समीक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं की जातीं। इन गोष्ठियों में अपनी रचनाओं से भावकों को प्रभावित करना इतना सुकर नहीं था और फिर यदि रचना स्तरी न हो तो विद्वानों की सभा में अपयश का भाजन भी बनना पड़ता था। भामह ने तो इस अकीर्ति को मृत्यु के समान कहा[४] कीर्ति के लोभ से अनेकधा तो प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का अनुवाद करके ही कुछ छात्र-कवि इन गोष्ठियों में पहुँच जाया करते थे। भामह ने इस प्रवृत्ति की निन्दा की है। ऐसे कवि अन्यसारस्वत हैं जिनके पास रचना की मौलिकता के नाम पर कुछ भी नहीं है।[५] इन उदीयमान छात्रकवियों के लिए काव्यरचना सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की

---

१. काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन.......... -अ० भा०, भारतीय साहित्यशास्त्र, देशपाण्डे, पृ० ३९ से उद्धृत।
२. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदिष्यते। -का० आ०, २/१३
३. सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे। - का० मी०, पृ० ३५
४. का० अ०, १/१२
५. मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्त्तते।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः।। - वही, ६/६

रूपरेखा प्रस्तुत करना इस शास्त्र का उद्देश्य था। दण्डी ने इन्हें निरालस्य होकर काव्यसाधना का निर्देश दिया।[१] वामन ने अविवेकी छात्रकवियों की निन्दा की थी।[२] कम से कम ध्वनिपूर्ववर्ती प्रायः सभी ग्रन्थों को कविशिक्षा के अन्तर्गत रखा जा सकता है परन्तु भामह का काव्यालङ्कार इस दृष्टि से दोहरे उद्देश्य को लेकर चला है। व्याकरण, न्याय और मीमांसा के समकक्ष काव्य के महत्त्व को स्थापित कर पाना भामह की तड़प थी। शास्त्र को तो कोई मन्दबुद्धि भी गुरु से पढ़कर सीख सकता है परन्तु काव्यनिर्माण प्रत्येक के लिए सुलभ नहीं है।[३] काव्य के प्रयोजनों को भी ये इन शास्त्रों की तुलना में चतुर्वर्ग तक ले गये[४], अन्यथा दूसरे आचार्य तो उन्हें कीर्ति अथवा अधिक से अधिक प्रीति तक सीमित रखते थे।[५]

गद्य-पद्यात्मक विविध काव्यविधायें इस समय तक इतनी प्रसिद्ध हो गयी थीं कि नाट्य का महत्त्व अब गौण पड़ने लगा। भामह ने दबे स्वर से अभिनेयार्थ को काव्य में अन्तर्भूत माना।[६] दबे स्वर से इसलिए कि नाटक के विभिन्न रूपों के जो उदाहरण काव्यालङ्कार में दिए गए हैं, वे सभी गीतिनाट्य के हैं।[७] दण्डी ने इस बात को और स्पष्ट किया। वे नाटक को मिश्र कहते हैं।[८] वामन तक तो स्पष्ट रूप से दशरूपक काव्य का एक श्रेष्ठ भेद माना जाने लगा था।[९] इस प्रकार इस अन्तराल में काव्यसमीक्षा का इतना विस्तार हुआ कि जहाँ वह पहले कभी नाट्यशास्त्र की आनुषङ्गिक थी, अब स्वयं रूपक ही उसके सीमाविस्तार में समाहित हो गया।

□□□

---

१. तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥-का० आ०,१/१०५

२. का० सू० वृ०, १/२/१-५

३. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।।-का० अ०, १/५

४. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।-वही, १/२

५. का० सू० वृ०, १/१/५

६. का० अ०, १/१८

७. नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।।-वही, १/२४

८. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्।।- का० आ०, १/११

९. का० सू० वृ०, १/३/३०-३२

द्वितीय विमर्श

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(क) भामह और काव्यालङ्कार

भामह का परिचय उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति काव्यालङ्कार के रूप में उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के अन्त में यह उल्लिखित है कि इसकी रचना रक्रिलगोमि के पुत्र भामह ने की।[१] रक्रिल शब्द के ध्वनि साम्य से उनके बौद्ध होने का विवाद लम्बे समय तक चलता रहा। पुनः मङ्गलाचरण में प्रयुक्त 'सार्व' तथा 'सर्वज्ञ' शब्द[२] और षष्ठ परिच्छेद में अपोहवाद का वर्णन[३] इसके तर्कों में जुड़ गये। परन्तु यह मत बहुत देर तक स्थिर नहीं रह सका। श्री पी०वी० काणे ने प्रबल तर्कों से इसका खण्डन कर दिया।[४] श्री त्रिवेदी के अनुसार गोमिन् शब्द नैघण्टुकों के द्वारा गोस्वामिन् के अपभ्रष्ट रूप में व्याख्यात किया जाता है।[५] संयोग से यह जाति भी कश्मीर और उत्तर भारत के ब्राह्मणों में ही पाई जाती है। सार्व शब्द 'सर्वस्मै हितम्' अर्थ में भामह का प्रिय प्रयोग है[६] और सर्वज्ञ को अमरकोश में शिव का पर्यायवाची कहा गया है[७], अतः मङ्गलाचरण भी सर्वहितकारक शिव की स्तुति में अवसित होता है। अपोहवाद के खण्डनपरक वर्णन से तो विरोधी निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। दूसरी ओर काव्यालङ्कार में अनेक उपलब्ध वैदिक और पौराणिक सङ्केत भी उन्हें बौद्ध मानने की अनुमति नहीं देते। बौद्ध दर्शन के इस एक सिद्धान्त के साथ-साथ न्याय और व्याकरण दर्शन तथा उनके स्थापक आचार्यों के प्रति

---

१. सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्। का० अ०, ६/६४
२. प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं............।वही, १/१
३. वही, ६/१६-१९
४. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १०४
५. के० पी० त्रिवेदी, प्र० रु०, भूमिका, पृ० ३७
६. का० अ० (भा०), ६/५३
७. कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः। -अ० को०, १/१/२८

भी ग्रन्थकार की श्रद्धा व्यक्त हुई है। अतः बौद्ध की अपेक्षा उनके वैदिक परम्परा के अनुयायी होने की सम्भावना ही अधिक है। विद्वानों के बहुमत की मान्यता है कि वे कश्मीरी ब्राह्मण थे। भामह उनका सार्थक पूर्व नाम (Fore Name) था, जिसका अर्थ है–क्रोध का हन्ता। अतः पितृनाम के साथ उनका पूरा नाम हुआ–भामह गोमिन् अथवा गोस्वामिन्।

काव्यालङ्कार के लेखक का इससे अधिक और कोई प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं होता। उनके आविर्भाव काल को लेकर सभी अन्तः और बाह्य साक्ष्यों का विश्लेषण और परीक्षण विपश्चितों के द्वारा किया गया है परन्तु कोई निश्चित निष्कर्ष अभी नहीं निकल पाया। इसी से जुड़े हुए एक अन्य प्रश्न भामह और दण्डी के पौर्वापर्य को लेकर प्रो० के०बी० पाठक ने भामह की पूर्ववर्तिता सिद्ध की।[१] परन्तु प्रो० टी० नरसिंह आयंगर के निष्कर्ष ठीक इनके विपरीत हैं।[२] प्रो० के०पी० त्रिवेदी की सहमति श्री पाठक के साथ है।[३] पं० बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय ने इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार किया। उनके निष्कर्ष और भी विचारोत्तेजक हैं। वे भामह की पूर्ववर्तिता केवल दशाब्दियों से नहीं प्रत्युत शताब्दियों से मानते हैं। भामह के साथ जुड़े हुए अन्य नामों भास, कालिदास, माघ, धर्मकीर्ति, जिनेन्द्रबुद्धि, दिङ्नाग, भट्टि आदि पर भी उन्होंने विचार किया है।[४] परन्तु श्री पी०वी० काणे ने पुनः दण्डी की पूर्वता की वकालत की। कुल मिलाकर पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनके समय को खींचने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध केवल सैद्धान्तिक आलोचना के उद्देश्य को लेकर चला है। अतः इन सब मतान्तरों का पुनरीक्षण यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है। केवल बहुमत के साथ भामह को ही पूर्ववर्ती मान लिया गया है परन्तु दण्डी का काल–व्यवधान उनसे बहुत अधिक नहीं है। वे उनके निकट उत्तरवर्ती विरोधी दाक्षिणात्य परम्परा के आचार्य थे। भामह और दण्डी, दोनों ही के ग्रन्थों में उपलब्ध विरोधी वादों के खण्डन को व्यक्तिगत आक्षेप न

१. के० बी० पाठक, क० रा० मा०, भूमिका।
२. नरसिंह आयंगर , जे० आर० ए० एस०, १९२०
३. के० पी० त्रिवेदी, प्र० रु०, भूमिका, पृ० ३७
४. पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, का० अ०, भूमिका, पृ० १२–५५

मानकर परम्पराओं के संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए। दण्डी के समक्ष तो भामह थे ही, अन्यथा यदि उनका ग्रन्थ दण्डी को न भी उपलब्ध हो पाया हो तो औदीच्य परम्परा के अन्य सम्प्रति अनुपलब्ध आचार्यों की रचनायें उन्हें प्राप्त रही होंगी। भामह से पूर्व दाक्षिणात्य परम्परा में मङ्गल का नाम तो मिलता ही है[1], उनके समर्थकों का एक बड़ा वर्ग भी था।

आज निश्चित प्रमाणों के अभाव में काव्यालङ्कार के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ को भामह के नाम के साथ निश्चित रूप से जोड़ पाना अत्यन्त कठिन है परन्तु यह नाम कुछ उद्धरणों के साथ अनेकत्र मिलता है जो काव्यालङ्कार में उपलब्ध नहीं होते। राघवभट्ट ने अर्थद्योतनिका टीका में दो बार उन्हें उद्धृत किया है।[2] एक प्रसङ्ग छन्दःशास्त्र तथा दूसरा पर्यायोक्त अलङ्कार से संबंधित है। छन्द से संबंधित कुछ श्लोकों को नारायणभट्ट ने वृत्तरत्नाकर की टीका में भी उद्धृत किया है।[3] सम्भवतः इस विषय पर भामह ने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। वररुचि के प्राकृतप्रकाश पर प्राकृतमनोरमा नाम की टीका भी भामह से सम्बद्ध की जाती है परन्तु पं० बलदेव उपाध्याय[4] और पी०वी० काणे[5] यह निश्चय के साथ नहीं कह पाये कि इस प्राकृत व्याकरण के ग्रन्थ का लेखक भामह और काव्यालङ्कार का लेखक अभिन्न है। भामह के समय में प्राकृत भाषा में लिखे गये काव्य अवश्य उपलब्ध होते थे और उन्हें अलङ्कारशास्त्र में मान्यता भी प्राप्त थी।[6] दूसरी ओर व्याकरणिक शुद्धता के प्रति वे जितने सजग थे, सम्भवतः प्राकृत व्याकरण पर किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अभाव को देखते हुए यह टीका उन्होंने ही लिखी हो। तथापि इस विषय पर अभी अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। काव्यालङ्कार

---

१. -कः पुनरयं पाकः? परिणाम इति मङ्गलः। कः पुनरयं परिणामः? सुपां तिङां च श्रवः यैषा व्युत्पत्तिः इति मङ्गलः।

-व्युत्पत्तिः श्रेयसी इति मंगलः। का० मी०, अध्याय ५.

२. अ० शा०, निर्णयसागर संस्करण, पृ० ४ एवं १०

३. नारायण भट्ट, वृ० र०, पृ० ६ एवं १०

४. का० अ०, भूमिका, पृ० ५७

५. काणे, सा० द०, भूमिका, पृ० २०

६. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।-का० अ०, १/१६

में प्राप्य अनेक प्रकीर्ण उदाहरणों से उनकी कारयित्री प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है, इसकी प्रशंसा प्रो० काणे ने भी की है[१] परन्तु कोई काव्यग्रन्थ उनके द्वारा रचित अब तक उपलब्ध नहीं हो पाया है।

भामह का आविर्भाव काव्यशास्त्र के इतिहास में उस समय हुआ जब काव्यचर्चा नाट्य से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना चुकी थी। बल्कि भामह के समय तक तो उसके विवेचन को प्रमुखता दी जाने लगी थी। नागरकगोष्ठियों में, जहाँ व्याकरण, न्याय और मीमांसा जैसे पाण्डित्य-प्रधान विषयों का वर्चस्व था, काव्यसिद्धान्तों की भी चर्चा की जाती थी। ऐसे समय में भामह ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ अपनी व्यापक परीक्षण शक्ति और आलोचनात्मक विश्लेषण के कारण समर्थ होकर उत्तरवर्ती समीक्षा को प्रभावित करता रहा है। इस ग्रन्थ के माध्यम से एक ओर तो ये काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं तो दूसरी ओर उनका प्रयास गोष्ठियों में काव्यचर्चा की प्रतिष्ठा करना भी है। कभी-कभी तो उनकी यह जिजीविषा अत्यन्त प्रखर और उग्र भी हो जाती है, जब वे यह कहते हैं कि शास्त्र तो जड़बुद्धि भी गुरु के उपदेश से सीख सकते हैं परन्तु काव्यत्व का स्फुरण किसी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को ही होता है।[२] काव्य के प्रयोजनों को भी उन्होंने इसीलिए पुरुषार्थचतुष्टय से सम्बद्ध कर दिया।[३]

काव्यालङ्कार में पाँच प्रधान विषयों की योजना छः परिच्छेदों में, लगभग ४०० कारिकाओं में की गयी है, इसका विवरण उन्होंने स्वयं ग्रन्थान्त में दो कारिकाओं में दे दिया है।[४] सर्वप्रथम ६० कारिकाओं में काव्यशरीर की

---

१. काणे, सा० द०, भूमिका, पृ० २२

२. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।। का० अ०, १/५

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। -वही, १/२

४. षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः।। -का० अ०, उपसंहार।

विवेचना है। इसमें काव्यसामान्य से सम्बद्ध साधारण प्रश्नों–काव्यस्वरूप, लक्षण, महत्त्व, भेदादि पर विचार किया गया है। वे मूलत: काव्यसमीक्षा में औदीच्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ पदविन्यास की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्त्व दिया जाता था। उनकी वक्रोक्ति भी अर्थ को ही विभावित करती है।[१] सामान्य वार्ता और काव्य का विभेदक तत्त्व यही वक्रोक्ति है।[२] इसका विरोधी द्वन्द्व भी वार्ता अथवा ग्राम्यता के साथ ही हो सकता है, स्वभावोक्ति तो वक्रोक्ति की तरह ही काव्यत्व की नियामक है।[३] भामह की इस वक्रता की कल्पना ने ही आगे चलकर वक्रोक्ति सिद्धान्त को जन्म दिया।

काव्यसर्वस्वभूत वक्रोक्तिमूलक अलङ्कारों के व्यापक परिवेश में रस-भावादि की समस्त प्रक्रिया समाहित थी। नाटक से महाकाव्य तक रस उतर तो आया परन्तु उसे अभी यहाँ स्वयं को प्रतिष्ठापित करना था। काव्यालङ्कार उसकी काव्ययात्रा का प्रथम चरण है, जहाँ इसे अलङ्कार के रूप में देखा गया।[४]

अलङ्कारनिरूपण दो परिच्छेदों में कुल १६० कारिकाओं में समाप्त हुआ है। यहाँ ३७ मान्य तथा चार अमान्य अलङ्कारों के स्वरूप पर विचार उपलब्ध होता है। यहीं कुछ कवियों तथा काव्यशास्त्रियों की ओर नामोल्लेखपूर्वक अथवा विना नाम लिये सङ्केत किया गया है जिससे भरत और उनके मध्यवर्ती अज्ञात काल पर प्रकाश पड़ता है। विभिन्न वर्गों में विवेचित अलङ्कार काव्यशास्त्र के विकास की क्रमिक भूमिका को लेकर उपस्थित होते हैं। उपमा के विषय में उनका यह कथन कि सादृश्य का आधार गुणलेश ही हो सकता है, अन्यथा कोई वस्तु सर्वात्मना किसी दूसरी वस्तु के सदृश नहीं हो सकती[५], मौलिक और ताज़ा है। हेतु, सूक्ष्म और लेश का उन्होंने खण्डन किया क्योंकि

---

१. .... अनयार्थो विभाव्यते.........।" वही, २/८५

२. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण:।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तमेनां प्रचक्षते।। -वही, २/८७

३. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। - का० अ०, १/३०

४. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा। -वही, ३/६

५. सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते। -वही, २/४३

उनमें वक्रोक्ति का आदर नहीं होता।[1] आशी: को भी परमतानुरोधेन ही स्वीकार किया जा सकता है।[2]

दोषनिरूपण ५० कारिकाओं के एक स्वतन्त्र परिच्छेद में हुआ है जो परम्पराप्राप्त होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से कुछ मौलिकता लिये हुए है। भरत और वामन ने गुणों के निकष पर दोषों अथवा दोषों के निकष पर गुणों का स्वरूप निर्धारित किया था। भामह ने इनकी विवेचना काव्य के निकष पर उसके उत्कर्षक अथवा अपकर्षक तत्त्वों के रूप में की। दोष गुणों के विरोधी नहीं, काव्यत्व के अपकर्षक हैं। दोषविशेष की अनित्यता[3] भी उनके चिन्तन की गम्भीरता को प्रकट करती है।

पञ्चम परिच्छेद में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तहीन दोषों का वर्णन है। यहाँ काव्य को न्यायशास्त्र का आधार देने का प्रयास किया गया है परन्तु उन्हें प्रतिष्ठा नहीं मिली। कविता में शास्त्रीय विषयों के चुनाव से बचने का निर्देश करते हुए भी[4] उनका प्रखर पाण्डित्य आलोचना के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शास्त्रविचार के लोभ का संवरण नहीं कर पाया। इसके हिस्से में कुल ७० कारिकायें आयी हैं।

गुणों का स्थान और गरिमा काव्यालङ्कार में नहीं के बराबर है परन्तु सहज क्रम में ही माधुर्य, प्रसाद और ओज का जो विवेचन उन्होंने किया[5] वह रसध्वनिकाल में आकर, जब दशगुणवाद का विरोध हुआ तो आचार्यों का उपजीव्य बन गया। इन्हीं गुणों के ग्रहण और त्याग के आधार पर जो दक्षिण भारत के पदविन्यासवादी आचार्य वैदर्भी और गौडी का विवेचन किया करते थे, उसका उन्होंने डटकर विरोध किया। इसका प्रभाव कुन्तक पर पड़ा और उन्होंने कविस्वभाव के साथ इन मार्गों को जोड़ा भी, परन्तु अन्ततः लोकप्रवाह में उनकी मान्यता स्वीकार नहीं हो सकी। हाँ, कथा और

---

१. [illegible], २/८६
२. वही, ३/५५
३. वही, १/५४-५९
४. वही, २/२०
५. वही, २/१-३

आख्यायिका का जो विभाग उन्होंने किया था, उसका दण्डी के प्रबल तर्क भी कुछ नहीं बिगाड़ सके।

अन्त में ६० कारिकाओं में काव्यार्थ को वक्रता से सम्पन्न बनाने के लिए व्याकरणिक शब्दों की काव्य में प्रयोगयोग्यता पर विचार किया गया है। यह निर्वचन पाणिनिमत के अनुरोध से है। तन्त्रान्तर से सिद्ध शब्दों को वे वर्ज्य मानते हैं।[1] अन्त में व्याकरण और पाणिनिमत की स्तुति भी की गयी है।[2] ग्रन्थ के समग्र प्रारूप से उनके पाण्डित्य की महिमा तो प्रकट होती है परन्तु विषय का व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन उपलब्ध नहीं होता, जो वामन में है, विशेष रूप से अलङ्कारों के प्रसङ्ग में। कहीं भेदमुखेन ही उसके स्वरूप की प्रतिपादित करने का प्रयास है (यथा दीपक और उदात्त) तथा कहीं केवल उदाहरण ही उपलब्ध होता है, लक्षण नहीं (यथा प्रेयः)। दोषविवेचन में भी व्यवस्था का अभाव है परन्तु फिर भी स्थान-स्थान पर उनकी मौलिक सूझ, गहन विवेचना और सूक्ष्म तर्कशक्ति के दर्शन होते हैं।

यही कारण है कि एक लम्बे समय तक भी वे उपजीव्य बने रहे। आनन्दवर्धन (ध्व०आ०), अभिनवगुप्त (ध्व०लो०), मम्मट (का०प्र०), अप्पयदीक्षित (चि०मी०), केशवमिश्र (अ०शे०), नमिसाधु (का०अ० (रु०) टीका), प्रतिहारेन्दुराज (ल०वृ०), प्रेमचन्द्र तर्कवागीश (का०आ०टीका), मल्लिनाथ (भ०का०टीका), रुय्यक (अ०स०), वल्लभ (सु०अ०), विश्वेश्वर पण्डित (अ०कौ०), हेमचन्द्र (का०अनु०), आदि आचार्यों ने इन्हें स्थल-स्थल पर प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। उद्भट ने, जो कश्मीरी सम्प्रदाय के दिग्गज आचार्य माने जाते हैं, काव्यालङ्कार पर 'भामह विवरण' नाम की एक टीका लिखी थी जिसका एक संस्करण रोम से प्रकाशित हुआ था। विद्वान् सम्पादक प्रो० रिएनरो नोली को जिस खण्डित रूप में पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी उससे काव्यालङ्कार के अध्ययन में बहुत अधिक सहायता नहीं मिलती तथापि कुछ स्थलों पर महत्त्वपूर्ण सङ्केत भी मिल जाते हैं, यथा १/९ में स्वीकृत 'काव्यहेतवः' पाठ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जिस रूप में भी वह मिला

---

१. ....न तन्त्रान्तरसाधितम्..............।- का० अ०, ६/२७

२. वही, ६/६२-६३

है, इस ग्रन्थ के लेखक ने उसे देवनागरी में लिप्यन्तरित करके काव्यालङ्कार के नवीन संस्करण (विद्यानिधि प्रकाशन, १९९४) के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया है। भामह की प्रामाणिकता इसी बात से सिद्ध होती है कि विद्याधर ने मङ्गलाचरण में इन्हें ही नमस्कार किया था।[१]

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध तक हमारे पास इस आचार्य का परिचय केवल नाम अथवा यत्र-तत्र प्रकीर्ण उद्धरणों के रूप में ही उपलब्ध था। सर्वप्रथम जैकब ने काव्यालङ्कार की प्रति देखी और इसे भामह के साथ जोड़ा। पुन: श्री के०बी० पाठक, नरसिंहाचार आदि ने इस ओर ध्यान भी आकर्षित करवाया परन्तु वास्तव में यह कार्य तभी प्रकाश में आया जब श्री के०पी० त्रिवेदी ने प्रतापरुद्रीय के परिशिष्ट के साथ इसे प्रकाशित करवाया। इसके अनन्तर इसके तीन संस्करण और निकले- १) चौखम्बा से अंग्रेजी भूमिका के साथ पं० बटुकनाथ शर्मा और पं० बलदेव उपाध्याय का, २) अंग्रेजी अनुवाद तथा नोट्स के साथ श्री पी० वी० नागनाथ शास्त्री का तथा ३) हिन्दी भूमिका और टिप्पणियों के साथ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा का। काव्यालङ्कार का नवीनतम संस्करण विस्तृत भूमिका तथा परिशिष्टों के साथ विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली से १९९४ में प्रकाशित हुआ है जिसका सम्पादन इस ग्रन्थ के लेखक ने किया है। विभिन्न शोधपत्रिकाओं में इनके समय आदि की समस्या को लेकर कुछ पत्र प्रकाशित हुए। श्री पी०वी०काणे, श्री सुशील कुमार डे, श्री गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे आदि ने अपने ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों पर सामान्य विचार किया है। अब तक इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता स्थापित हो चुकी है।

(ख) वामन और काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

जहाँ तक काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के अन्त:साक्ष्य का प्रश्न है, उसके आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि इसके सूत्र और वृत्ति दोनों ही के लेखक आचार्य वामन थे, जिन्हें पण्डित की उपाधि प्राप्त थी।[२] राजतरङ्गिणी का कहना है कि 'पण्डित' संज्ञा की प्रसिद्धि उस समय 'राजा'

---

१. पूर्वेभ्यो भामहादिभ्य: सादरं विहिताञ्जलि:। -एकावली।

२. इतिश्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ......। -का० सू० वृ०, अध्यायों की पुष्पिका।

संज्ञा से भी अधिक थी।[१] इसके अतिरिक्त और कोई सङ्केत ग्रन्थकार ने अपने विषय में नहीं दिया परन्तु ग्रन्थान्तरों में इनके अत्यधिक उल्लेख से एक ओर तो इनकी प्रामाणिकता और प्रसिद्धि की सूचना मिलती है तो दूसरी ओर इनके व्यक्तित्व अथवा योगदान को निश्चित करने के प्रामाणिक आधार भी उपलब्ध होते हैं।

स्वयं का०सू०वृ० में सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित माघ के शिशुपालवध तथा अष्टम शताब्दी के पूर्वार्ध में रचित भवभूति के उत्तररामचरित तथा महावीरचरित से प्राप्त उद्धरण तथा दूसरी ओर नवम शताब्दी के ध्वन्यालोक में वामन के सिद्धान्तों का उल्लेख इन्हें अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा नवम शताब्दी के पूर्वार्ध में स्थापित कर देता है। इसके साथ ही राजतरङ्गिणी में वामन को कश्मीर के शासक जयापीड का मन्त्री कहा गया है।[२] उनका समय भी यही है। अत: का०सू०वृ० के रचयिता वामन को ८०० ई० के लगभग राजा जयापीड का मन्त्री मानते हुए हम निश्चय ही सत्य से अधिक दूर नहीं हैं।

इन्हीं के साथ जुड़े हुए दूसरे प्रश्न काशिकाकार जयादित्य वामन के साथ सूत्रवृत्तिकार की अभिन्नता का परीक्षण भी इसी के आलोक में किया जाना चाहिए। अतएव डॉ० मनकद ने इन्हीं राजा जयापीड को जयादित्य और उनके मन्त्री वामन को उनके साथ काशिका का सहलेखक मानना चाहा है।[३] विद्या और विशेष रूप से व्याकरण के प्रति जयादित्य की निष्ठा को देखते हुए यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता परन्तु मैक्समूलर किसी भी परिस्थिति में काशिका का समय ६६० ई० के बाद का मानने को तैयार नहीं हैं।[४] पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने भागवृत्ति के प्रमाण पर इसे ७०० ई० से पहले का माना है।[५] अत: का०सू०वृ० और काशिकाकार भिन्न सिद्ध

---

१. तावत्पण्डितशब्देऽभूद्राजशब्दादपि प्रथा। -रा० त०, ४/४९१
२. बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण:। -तही, ४!४९७
३. Contribution of Kashmir to Sanskrit Poetics,--Dr. K. S. Nagrajan, p. 290
४. Max Muller, India What can it teach us, p. 338
५. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२५-२६

होते हैं। प्रो० पी०वी० काणे का भी यही मत है[1] हाँ, लिङ्गानुशासन के लेखक के साथ इनकी अभिन्नता सिद्ध करने के अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। दोनों ही ग्रन्थों की रचना एक ही समय में समान नाम वाले आचार्य द्वारा समान उद्देश्य (कवि शिक्षा) से समान पद्धति में हुई है। इसके अतिरिक्त सांख्य, न्याय और मीमांसा के उनके पाण्डित्य के सङ्केत भी का०सू०वृ० में उपलब्ध होते हैं परन्तु भामह के समान वे इनकी सूक्ष्मताओं में नहीं गये। एक स्थल पर मीमांसकों के सिद्धान्त का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर वे सिद्ध-परमतानुवाद रीति से उसका ग्रहण तो कर लेते हैं पर उसकी विशिष्ट व्याख्या वे जैमिनि मत पर छोड़ देते हैं।[2] ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने परम ज्योति को प्रणाम किया है[3] इससे उनके दार्शनिक चिन्तन की सूक्ष्मता और गम्भीरता प्रकट होती है परन्तु जीवनवृत्त के विषय में कोई सूचना नहीं मिल पाती।

का०सू०वृ० की रचनास्थली निस्सन्देह कश्मीर है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने जयापीड के मन्त्रिकाल में की परन्तु कश्मीर में रहते हुए भी वामन जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से है। संभवत: वे वृत्ति की तलाश में कश्मीर चले गये थे। राजा जयापीड का विद्वत्प्रेम प्रसिद्ध ही है। उन्होंने वामन की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें मन्त्री पद प्रदान किया था। एक बाहर से आये हुए विद्वान् की बढ़ती हुई महिमा को कश्मीर के पण्डित स्वीकार नहीं कर सके। यही कारण था कि तत्कालीन औदीच्याचार्यों ने उनका नामोल्लेख भी नहीं किया। आनन्दवर्धन रीतिसिद्धान्त का खण्डन विना उनका नाम लिये करते हैं। जबकि उन्हीं के प्रतिद्वन्द्वी उद्भट का ये आचार्य बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते रहे हैं। वे जयापीड के सभापति थे।[4] दूसरी ओर दाक्षिणात्य आचार्य अत्यन्त आदर से वामन का उल्लेख करते हैं। इस परम्परा में राजशेखर, स्वयम् उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, भोजराज, जगन्नाथ और गोपेन्द्र

१. P. V. Kane - History of Sanskrit Poetics. 185.
२. का० सू०वृ०, ५/१/१५ पर वृत्ति।
३. प्रणम्यं परमं ज्योति:...............।--का० सू० वृ०, मङ्गलाचरण।
४. भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः। रा० त०, ४/४९५

त्रिपुरहर भूपाल प्रमुख हैं। पण्डितराज रसध्वनिवादी होते हुए भी गुणों के विषय में वामनीय पद्धति का अत्यन्त आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं।

का०सू०वृ० की रचना उस काल में सामान्यतः प्रचलित कारिकापद्धति में न होकर सूत्र और वृत्ति की शैली में हुई है। इस प्रणाली का महत्त्व विवेचन की स्पष्टता और सुबोधता में है। अतएव बाद में रुय्यक, हेमचन्द्र, विश्वनाथ देव और पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी शैली में अपने ग्रन्थों की रचना की। कुल बारह प्रमेयों का प्रतिपादन पाँच अधिकरणों के १२ अध्यायों में ३२० सूत्रों में निष्पन्न हुआ है, इसका उल्लेख कामधेनु टीका की भूमिका में टीकाकार ने किया है।[१] स्वयं वामन ने भी प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में तत्तद् अध्याय का संज्ञाकरण किया है।

प्रथम अधिकरण की शारीर संज्ञा है। इसके तीन अध्यायों में क्रमशः प्रयोजनस्थापना, अधिकारिचिन्ता व रीतिनिश्चय तथा काव्याङ्ग (हेतु) एवं काव्यविशेष का निरूपण हुआ है। विशेष रूप से अधिकारीनिरूपण से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि कविब्रुवों की बहुत बड़ी संख्या उस समय में थी। भामह के समय से चली आ रही विदग्धगोष्ठियाँ अभी आयोजित की जाती थीं। सतृणाभ्यवहारी कवि दोषों का ध्यान किये विना उनमें अपनी रचनायें प्रस्तुत किया करते थे। सत्कवि गुण, अलङ्कार और दोषों का विवेक रखते हैं। काव्य के नित्य धर्म वस्तुतः गुण ही हैं।[२] उन्हीं से निर्मित रीति काव्यात्म

---

१. अध्याये प्रथमे काव्यप्रयोजनपरीक्षणम्।
अधिकारीविचारश्च द्वितीये रीतिनिश्चयः।।
काव्याङ्गकाव्यभेदानां तृतीये प्रतिपादनम्।
तुर्ये पदपदार्थानां दोषतत्त्वविवेचनम्।।
वाक्य-वाक्यार्थदोषाणां पञ्चमे तु प्रपञ्चनम्।
गुणालङ्कारभेदस्तु षष्ठे भेदगुणास्तथा।।
सप्तमेऽर्थगुणाः शब्दालङ्काराः पुनरष्टमे।
उपमा नवमे तस्याः प्रपञ्चो दशमे भवेत्।।
काव्यस्यैकादशे संविद् द्वादशे शब्दशोधनम्।
इत्येष द्वादशाध्यायी प्रमेयाणामनुक्रमः।। -का० धे०, भूमिका, १२-१६

२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।............ पूर्वे नित्याः।
- का० सू० वृ०, ३/१/१,३

पद पर प्रतिष्ठित होती है[1] क्योंकि उससे सम्पन्न काव्य से ही सहृदय को साक्षात् सौन्दर्य का संवेदन होता है। यह सौन्दर्य ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है जो गुणमूलक रीति से उत्पन्न होता है। पाञ्चाली रीति वामन की मौलिक स्थापना है। रीतियों का विवेचन भी लीक से हटकर मान्य गुणों के ही ग्रहणत्याग के आधार पर किया गया। लोक और वेद का ज्ञान कवि की कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न होकर काव्य में प्रतिफलित होता है।[2] नाटक भी वामन के समय तक काव्य के श्रेष्ठ भेद के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था।[3]

द्वितीय और तृतीय अधिकरण क्रमशः दोष और गुणों के वर्णन में समर्पित हैं। शब्द और अर्थ के रूप में इनकी वर्गीकृत प्रस्तुती वामन की मौलिक विशेषता है। दोषों का स्वरूप गुणों के ही मापदण्ड पर उनका विपरीत रूप स्वीकार किया गया।[4] ये वस्तुतः काव्य के स्वरूपाधायक नहीं, काव्यत्व से पूर्व की अनुवीक्षा हैं। दोषों के विचार पर भामह का प्रभाव स्पष्ट है। भरत और दण्डी के गुणों को नाम से स्वीकार करके शब्दार्थ के रूप में उनके विभाजन से उनकी संख्या २० हो गयी है। विशेष रूप से अर्थगुण रस[5] और अर्थबोध[6] की प्रक्रिया को भी अपने में समाहित किये हुए हैं। अर्थव्यक्ति अर्थगुण वस्तु के स्वभावाख्यान से सम्बद्ध है[7] जिसे स्वभावोक्ति अलङ्कार के समकक्ष रखा जा सकता है।

दाक्षिणात्य परम्परा में उपमा अलङ्कार विशेष रूप से मान्य रहा है, वामन ने अलङ्कारत्व के नियामक के रूप में इसकी सशक्त प्रतिष्ठा कर दी। चतुर्थ अलङ्कार-अधिकरण के प्रथमाध्याय में यमक और अनुप्रास शब्दालङ्कारों का

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः।
विशेषो गुणात्मा। -वही, १/२/६-८
२. लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि-वही, १/३/१
३. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।-वही, १/३/३०
४. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।-का० सू० वृ०, २/१/१
५. दीप्तरसत्वं कान्तिः।-वही, ३/२/१५
६. अर्थदृष्टिः समाधिः।-वही, ३/२/७
७. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।-वही, ३/२/१४

निरूपण करके द्वितीय अध्याय में केवल उपमा का वर्णन है। मेधावी और भामह के सात उपमादोषों को उन्होंने छः तक सीमित कर दिया। विपर्यय दोष हीनत्व और अधिकत्व में ही अन्तर्भूत हो जाता है। तृतीय अध्याय में उपमाप्रपञ्च का अधिकार है। इसमें २९ उपमामूलक अलङ्कार वर्णित किये गये हैं। भामह का व्यापक वक्रोक्तितत्त्व सादृश्यलक्षणामात्र रूप में का०सू०वृ० में स्थान पा सका।[१]

ग्रन्थ का उद्देश्य (अरोचकी) छात्र कवियों[२] को काव्यरचना का सामान्य शिक्षण प्रदान करना है। इसी निमित्त से अन्तिम प्रायोगिक अधिकरण की रचना की गयी है जिसमें रसानुकूल पदों की साधुता तथा असाधु पदों की प्रयोगवर्ज्यता का काव्यसमय और शब्दशुद्धि के दो पृथक् अध्यायों में प्रतिपादन है। वामन के इस विवेचन पर काशिका का प्रभाव स्पष्ट है।

का०सू०वृ० के वास्तविक मर्म को स्पष्ट करने वाली एक ही टीका 'कामधेनु' उपलब्ध होती है, जिसके रचयिता गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल हैं। वे भी दाक्षिणात्य आचार्य थे। विशेष रूप से रसध्वनिवादियों ने जिस प्रकार से वामनीय सिद्धान्तों को तोड़-मोड़कर प्रस्तुत किया, उससे वे क्षुब्ध थे। मम्मट द्वारा किये गये वामन के रीतिखण्डन को वे पाण्डित्यप्रदर्शन की खुजली मानते हैं।[३] प्रारम्भ में ही उन्होंने विद्वानों से ग्रन्थ की मात्सर्यरहित परीक्षा की प्रार्थना की है।[४] इसके अतिरिक्त महेश्वर सुबुद्धि मित्र की 'साहित्यसर्वस्व' तथा शशाङ्कधर के शिष्य सहदेव की एक टीका का उल्लेख भी मिलता है परन्तु ये टीकायें सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने १९५४ में 'काव्यालङ्कारदीपिका' नामक एक हिन्दी टीका का भी प्रकाशन किया है।

सन् १८७५ के पश्चात् अनेक बार इसका सम्पादन अंग्रेजी, हिन्दी,

---

१. सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः।--वही, ४/३/८
२. पूर्वे शिष्या, विवेकित्वात्।--का० सू० वृ० १/२/२
३. अथापि यदि पाण्डित्यकण्डूलवैतण्डिकचण्डिम्ना चिखण्डयिषा परस्य तर्हि स्वमतं पृष्टः स्वयमेवाचष्टाम्।।--वही, ३/१/४ पर का० धे०
४. अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्वसमीहया वा।
मदीयमार्या मनसा निबन्धममुं परीक्षध्वममत्सरेण।।--का० धे०, भूमिका।

तेलगु, जर्मन आदि अनुवादों तथा कामधेनु टीका के साथ हुआ है। इनमें से पं० दुर्गा प्रसाद द्वारा सम्पादित निर्णयसागर प्रेस से १८८०-८१ में, संस्कृत सीरीज़ बनारस द्वारा १९०७-८ में, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ से डॉ० बेचन झा के हिन्दी अनुवाद सहित १९७१ में, श्री आशुबोधविद्याभूषण तथा नित्यबोध विद्यारत्न द्वारा वाचस्पत्य यन्त्र, कलकत्ता से १९२२ में, श्री कृष्णसूरि द्वारा वाणी विलास प्रेस से (कामधेनु सहित) १९०९ में तथा आचार्य विश्वेश्वर द्वारा हिन्दी व्याख्या सहित १९५४ के प्रकाशन महत्त्वपूर्ण हैं।

❑❑❑

तृतीय विमर्श

काव्य-स्वरूप

(क) अनुबन्ध चतुष्टय

कवित्व दैवी अनुग्रह है, शक्ति का सहज स्फुरण। इससे सम्पन्न कवि विदग्धगोष्ठियों में यश और राजदरबारों में सम्मान पाता है। इस मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति को भी भामह के अनुसार शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर और काव्यज्ञों की उपासना कर प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को सामने रखकर ही काव्य-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।[१] इसी से प्रतिभा में संस्कार आता है। दण्डी के अनुसार भी पूर्ण मनोयोग के साथ की गयी सारस्वतसाधना प्रतिभा के अभाव में भी सफल होती ही है।[२] पूर्वाचार्यों, विशेष रूप से भामह के इस सङ्केत को ग्रहण कर मम्मट ने काव्यज्ञ का अर्थ दो प्रकार से किया है–१. जो काव्य की रचना और २. उसका गुणदोषविचार जानता हो।[३] अर्थात् इन सिद्धान्तों का ज्ञान कवि के लिए तो अनिवार्य है ही, समीक्षक अथवा भावक के लिए भी अपरिहार्य है क्योंकि इनकी पहचान हुए विना दण्डी के अनुसार गुण और दोषों का विभाग नहीं हो सकता, जैसे नेत्रज्योति के अभाव में रूप-भेद की उपलब्धियों का विश्लेषण सम्भव नहीं।[४] इस प्रकार काव्य का एक छोर उसका निर्माता सहृदय है तो दूसरा उसका अनुभविता सहृदय। राजशेखर ने इन दोनों के लिए काव्य से पूर्व शास्त्र में अभिनिवेश को न्यायसङ्गत माना है क्योंकि शास्त्र के विना काव्य का ज्ञान उसी प्रकार असम्भव है जैसे दीपक के बिना पदार्थ का ज्ञान।[५] इस प्रकार कवि और भावक दोनों की

---

१. शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। -का० अ०, १/१०

२. श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।का०आ०, १/१०४

३. काव्यं कर्त्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति.........। --का० प्र०, प्रथम उल्लास।

४. गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु।। -का० आ० १/८

५. शास्त्रपूर्वकत्वात्काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। न ह्यप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति। -का०मी०, द्वितीयोऽध्यायः

प्रवृत्तिजनकता के कारण शास्त्र का लक्षण काव्यशास्त्र पर घटता है।[१] वेदान्तानुमोदित ''शासनाच्छास्त्रम्' लक्षण भी काव्यशास्त्र पर घटित होता है क्योंकि किसी भी साहित्यिक रचना का गुणदोषपुरःसर विवेचन करना ही काव्यशास्त्र का विषय है।

परन्तु इस शास्त्र में प्रवेश का अधिकार सार्वजनिक न होकर विशिष्ट आभिजात्य तक सीमित है।[२] वामन ने अधिकारी निरूपण के प्रसंग में दो प्रकार के कवियों–१. अरोचकी और २. सतृणाभ्यवहारी का उल्लेख किया है। इसकी व्याख्या स्वयं वामन ने ही वृत्ति में विवेकी और अविवेकी के रूप में की है।[३] वामन का दृष्टिकोण इस विषय में अत्यन्त अनुदार है। अविवेकी किसी भी दशा में काव्य–शिक्षा के योग्य नहीं है। कामधेनुकार इसी के समर्थन में एक गाथा उद्धृत करते हुए अद्रव्य में शास्त्रशिक्षण को भस्म में होम, मरुस्थल में वृष्टि तथा बधिर के सम्मुख गायन के समान मानते हैं।[४] आचार्य मंगल ने अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी को आलोचक कहा था। राजशेखर ने आलोचकों का विवेचन करते हुए इन्हीं में दो अन्य भेदों को जोड़ दिया–(३) मत्सरी और (४) तत्त्वाभिनिवेशी।[५]

इस प्रकार के प्रयास कविब्रुवों की बाढ़ को रोकने और सत्काव्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। भामह भी कुकवित्त्व के प्रति अत्यन्त कठोर हैं। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि कविता न करने से कोई अधर्म नहीं होता और न ही इसके लिए किसी शासकीय अथवा प्राकृतिक दण्ड का विधान है। परन्तु हीन कोटि का काव्य मृत्यु के समान है।[६] भामह भी सर्वजन से

---

१. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते।।श्लो० वा० ५/५/४

२. न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत्। –का० सू० वृ०, १/२/४

३. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः।
......कोऽसावर्थः। विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति।––वही, १/२/१ एवं वृत्ति।

४. अयं भस्मनि होमः स्यादियं वृष्टिर्मरुस्थले।
इदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम्।। वही, १/२/४ का० धे०

५. ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति मङ्गलः। कवयोऽपि भवन्तीति वामनीयाः। चतुर्धा इति यायावरीयः– मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।
––का० मी०, पृ० ३२

६. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय च।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।।––का० अ०, १/१२

काव्यत्व का अधिकार छीनकर उसे विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित रखना चाहते हैं। अतएव इस प्रारम्भिक काल के लगभग सभी आचार्य कवियों के शिक्षण पर अधिक केन्द्रित थे जबकि ध्वन्युत्तरवर्ती काल के आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थ आलोचना के निकष स्थापित करने के प्रति अधिक जागरूक हो गये थे। पुनरपि आचार्य विश्वनाथ वासना से रहित व्यक्ति को काव्य में प्रवेश के योग्य नहीं मानते।[१]

ऐसी परिस्थिति में काव्य के प्रधान अङ्गों गुण, दोष और अलङ्कारों का विवेचन प्रारम्भिक लक्षण ग्रन्थों का प्रधान विषय था। दोषों का व्याख्यान काव्य के स्वरूपाधान की दृष्टि से नहीं प्रत्युत उसकी निष्पत्ति से पूर्व परिहरणीय तत्त्वों के रूप में किया गया। गुणों को कुछ आचार्य अलङ्कारों से अभिन्न ही मानते थे। उद्भट इसी पक्ष के समर्थक हैं। उन्होंने उन आचार्यों का विरोध किया जो इनका भेद काव्य में समवाय और संयोग वृत्ति के आधार पर करते हैं।[२] वामन ने इस चिन्तन को एक नयी दिशा दी। गुण अब काव्य के स्वरूपाधायक तथा अलङ्कार उसके उत्कर्षक हो गये।[३] भरत के चार अलङ्कार भामह तक आते-आते ३८ तक पहुँच गये। रस को नाटक में मुख्य तत्त्व माना जाता था, काव्य के क्षेत्र में उतरते ही उसकी भूमिका गौण हो गयी यद्यपि भामह के महाकाव्य-लक्षण में इसे स्थान मिला था।[४] उन्होंने इसका समाहार अलङ्कारों में[५] तथा वामन ने गुणों में किया।[६] ये ग्रन्थ छात्रकवियों की शिक्षा के निमित्त लिखे गये, इसका एक प्रमुख प्रमाण यह भी है कि सर्वप्रथम भामह और अनन्तर उसके अनुकरण पर वामन ने शब्दशुद्धि नामक प्रायोगिक अधिकरण को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। इसे काव्य का व्याकरण

१. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः।। सा० द०, परिच्छेद ३.

२. का० प्र०, अष्टम उच्छ्वास में उद्धृत उद्भटमत।

३. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तददतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।
-का० सू० वृ०, ३/१/१-२

४. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।--का० अ०, १/२१

५. रसवद्दर्शितस्पष्टभृङ्गारादिरसं यथा।-वही, ३/६

६. दीप्तरसत्वं कान्तिः।--का० सू० वृ०, ३/२/१५

कहा जा सकता है परन्तु भामह के प्रयोग को वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने मान्यता नहीं दी।

काव्यशास्त्र का यह विषय कवि के साथ बोध्यबोधकभावरूप सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। शास्त्र के साथ विषय का संबंध प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव रूप है।[१]

इस प्रकार कवि और भावक को कविता और आलोचना के मानदण्डों का बोध करवाना काव्यशास्त्र का प्रयोजन है। इस दृष्टि से साहित्यदर्पण-कार आचार्य विश्वनाथ का यह मत कि शास्त्र काव्य का अप्रधान कारण है, अतः जो काव्य का प्रयोजन है, वही काव्यशास्त्र का भी प्रयोजन है[२], चिन्त्य है। कवि के दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाये तो परम्परासम्बन्ध से इस मत में कुछ सार हो सकता है क्योंकि गुणदोष का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही कवि की शक्ति में संस्कार आ सकता है अन्यथा अन्योक्त का अनुवाद करने वाले 'अन्यसारस्वत' विदग्धगोष्ठियों में सम्मान प्राप्त नहीं कर सकते।[३] परन्तु वस्तुतः भामह और वामन के काव्यालङ्कार ग्रन्थ कवि के साथ-साथ आलोचक के भी मार्गदर्शक हैं। कामधेनु टीकाकार ने दोषहान और गुणालङ्कारादान आदि से प्रतिपाद्य सौन्दर्यरूप अलङ्कार के प्रतिपादन में इस शास्त्र का प्रयोजन स्वीकार किया है।[४]

काव्य के प्रयोजनों का शास्त्र के इस प्रयोजन के साथ साङ्कर्य नहीं हो सकता। शास्त्र काव्य का (गौण) कारण है[५] (प्रधान कारण प्रतिभा है),

---

१. शास्त्रस्य विषयस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धः।
-- का० सू० वृ०, १/१/५ पर का० धे०

२. अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वम्।
--सा० द०, प्रथम परिच्छेद।

३. मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्त्तते।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः।। - का० अ०, ६/६

४. अस्यांलङ्कारशास्त्रस्य सौन्दर्यापरपर्यायेऽलङ्कारे परमप्रतिपाद्यत्वेन दोषगुणालङ्कारविषयहेयोपादेयतया तद्व्युत्पादनं प्रयोजनम्।
--का० सू० वृ०, १/१/५ पर का० धे०

५. शास्त्रतस्ते। ते दोषगुणालङ्कारहानादाने शास्त्रादस्मात्। का० सू० वृ० १/१/४

काव्य वामन के अनुसार कीर्ति और प्रीति का।[१] प्रीति अथवा आनन्द काव्य का साक्षात् प्रयोजन है, जिसे अप्रत्यक्ष रूप से आनन्दवर्धन ने भी माना[२], कीर्ति अदृष्ट प्रयोजन। वामन ने ये दोनों ही शब्द भामह से लिये परन्तु इनकी व्याख्या उनकी अपनी है। प्रीति शब्द के कामधेनु टीकाकार ने दो अर्थ बताये हैं–१.श्रवण के तत्काल अनन्तर हृदय में उत्पन्न सौन्दर्यसंवेदनरूप आनन्द तथा २. परिणामतः इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहाररूप उपलब्धि।[३] यही उत्तरकाल में उपदेश के नाम से कही गयी और मम्मट ने इसका विशेषण 'कान्तासम्मित' दिया[४] जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

सुखरूपा होने के कारण कीर्ति को स्वर्गफला कहा गया है, अतः वह भी वस्तुतः प्रीतिजनक ही है पुनरपि उसका पृथगुपादान साभिप्राय है। इस प्रयोजन को सभी आचार्य महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं। मम्मट ने इसे सर्वप्रथम स्थान दिया। काव्यगोष्ठी में अथवा सहृदय समाज में कवि को जब साधुवाद मिलता है तो उसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वामन ने इस प्रयोजन की स्तुति में तीन कारिकाओं का भी निबन्धन किया है।[५] काव्य-बन्ध की प्रतिष्ठा यश का मार्ग है अवश्य परन्तु यदि वह कुकाव्य हो तो उतनी ही अकीर्ति भी मिलती है। भामह ने इसे साक्षात् मरण के समान कहा था।[६] कीर्ति सुखरूपा और स्वर्गफला है तो अकीर्ति नरक की दूती। सत्काव्य का स्पर्श पाकर न केवल

---

१. काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। -का० सू० वृ० १/१/५

२. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। -ध्व० आ०, उद्योत प्रथम

३. अत्र प्रीतिशब्देन श्रवणसमनन्तरमेव सहृयहृदयेषु जायमाना या रसास्वादलक्षणा या च पुनरिष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारनिबन्धना सेयमुभयविधा प्रीतिर्विवक्षिता।
-- का० सू० वृ० १/१/५, का० धे०

४. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे। का० प्र०, प्रथम उल्लास।

५. प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनी त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोक नरकोद्देशदूतिकाम्।।
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च निबर्हितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।। -का० सू० वृ०, १/१/५ वृत्ति।

६. कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। -का० अ०, १/१२

कवि बल्कि काव्य में वर्णित चरित्र भी चिरस्थायी हो जाते हैं। इसलिए कवि को सत्काव्य की रचना में ही प्रयत्न करना चाहिए। प्रीति का साक्षात् सम्बन्ध सहृदय से और कीर्ति का कवि से है। भोज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण में काव्य के यही दो प्रयोजन बताये थे।[१]

भामह ने पुरुषार्थचतुष्टय का सम्बन्ध भी काव्य के साथ जोड़ा था[२] जिसे वामन ने नहीं माना। क्योंकि इसकी प्राप्ति अन्य शास्त्रों से भी हो सकती है। भामह द्वारा इसे प्रयोजनों में परिगणित करने का कारण अन्य ही है। उनका उद्देश्य कविशिक्षा के अतिरिक्त काव्य को न्याय और व्याकरण आदि शास्त्रों के समकक्ष प्रतिष्ठित करना था। भामह तक काव्यचर्चा को नाट्य से पृथक् हुए अधिक समय नहीं हुआ था। व्याकरण और न्यायादि शास्त्रीय विषयों का पाण्डित्य तब वैदुष्य का निकष समझा जाता था। इनकी स्पर्धा में नये विकसित होते हुए शास्त्र की स्थापना करना बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। दर्शन के गम्भीर प्रश्नों से मानव जीवन की विषमताओं का समाधान करने वाले आचार्यों के साथ उन्हीं की भाषा में बात करना आवश्यक था। इसलिए भामहाचार्य प्रयोजन के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम चारों पुरुषार्थों का नामतः उल्लेख करते हैं।

परवर्ती काल में विश्वनाथ[३] ने भी इनका ग्रहण किया। विश्वनाथ के समक्ष मम्मट का कान्तासम्मितत्व भी उपस्थित था। इन दोनों को जोड़कर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि अन्य शास्त्रों के द्वारा सुलभ होकर भी पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति काव्य से ही करनी चाहिए क्योंकि यह मार्ग शास्त्रों की कर्कशता के विपरीत सरस, मृदु और सुन्दर है।[४] यह प्रयोजन भी सहृदय को लक्ष्य करता है।

---

१. रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। - स० क०, १/२

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।। - का० अ०, १/२

३. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव..........। सा० द०,१/२

४. चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।
- सा० द०, १/२ पर वृत्ति।

इस चतुर्वर्ग में भी रूढ़ दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त मोक्ष के प्रयोजनत्व पर यद्यपि प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है परन्तु यदि इसे लोकोत्तर रसवती प्रतिष्ठा के रूप में मान लिया जाये तो इसका अन्तर्भाव ध्वन्यालोक के आनन्द की व्याख्या में ही हो जाता है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि धर्मजन्य फल के परित्याग से यह सर्वथा सुलभ है। अथवा मोक्षोपयोगी उपनिषदादि के वाक्यों में व्युत्पत्ति का आधान करने से काव्य की मोक्ष के प्रति हेतुता भी बनती ही है। परन्तु काव्य के यथार्थवादी आलोचक इस प्रयोजन का परिहार ही करते रहे हैं। इस दृष्टि से धर्म का उल्लेख भी यद्यपि विवादास्पद हो सकता है परन्तु इस शब्द का परिवेश बहुत व्यापक है। अपनी विस्तृत अवधारणा में यह कदाचित् प्रयोजन के रूप में स्वीकृत हो ही सकता है। साहित्यदर्पणकार ने इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की रचना तथा काव्य का अनुशीलन दोनों ही धर्मोत्पादक हैं। काव्यरचना से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। दूसरी ओर वेद सुन्दर प्रकार से निवेश किये गये तथा सम्यक् प्रकार से समझे गये एक भी शब्द को लोक और परलोक की सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला बताता है–एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति। काव्य से बढ़कर शब्द का सुन्दर प्रयोग और कहाँ उपलब्ध हो सकता है। काव्य से अर्थ की प्राप्ति का उल्लेख मम्मट ने भी किया है। हर्षादि राजाओं से धावकादि कवियों को प्रभूत धन की प्राप्ति की चर्चा उन्होंने सुन रखी थी। इस अर्थ से कामभोगों की प्राप्ति भी सर्वथा सम्भव ही है।

इनके अतिरिक्त भामह ने काव्य के एक अन्य प्रयोजन ''वैचक्षण्यं कलासु'' का भी निर्देश किया है।[१] यह वस्तुतः भरत के बुद्धिविपर्यय तथा लोकोपदेश का ही अनुवाद है। दूसरी ओर कलानैपुण्य काव्य का हेतु भी है।[२] ऐसे प्रसङ्ग में हेतु को कवि के साथ और प्रयोजन को नागरक के साथ जोड़कर इस विरोधाभास की सङ्गति की जा सकती है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रयोजननिरूपण के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख नहीं किया। अस्तु।

१. का० अ०, १/२
२. वही, १/९

भामह और वामन दोनों ही के द्वारा निरूपित काव्यप्रयोजन युगीन परिस्थितियों के अनुकूल हैं। दोनों ही की स्थापनायें परवर्ती आचार्यों में किसी न किसी रूप में स्वीकृत होती रहीं। इन्होंने काव्य को जीवन के साथ जोड़कर देखने का प्रयास किया जिसे आज की आलोचना पद्धति में Art for Life's sake कहा जा सकता है। यह जीवन के साथ जुड़कर भी कला की विश्वात्मक अभिव्यक्ति है।

(ख) काव्य हेतु

दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा[१] के नाम से जिस तत्त्व की ओर सङ्केत किया है, भामह ने उसे ही काव्य का प्रधानतम निमित्त माना था। उनका प्रयास काव्य को शास्त्र से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करने का था। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि शास्त्र तो गुरूपदेश से जड़मति व्यक्ति भी सीख लेता है परन्तु काव्यत्व का स्फुरण उस निसर्ग प्रतिभा से ही हो सकता है[२] जो अवचेतन में स्थित जन्मान्तरों के संस्कारों और सनातन अनुभूतियों का केन्द्र है। यही कवि के भावातिरेक से समन्वित होकर उद्बुद्ध हो जाती है तथा काव्यरूप में परिणत होती है। इसी बात को वामन ने 'बीज' शब्द से कहा[३], मम्मट ने भी उसका समर्थन किया[४] तथा य०ति०च० में इसी के आधार पर काव्यवृक्ष का रूपक खड़ा किया गया।[५] बीज जिस तरह वृक्ष का उपादान कारण है उसी तरह प्रतिभा काव्य का प्रधान निमित्त। दूसरी ओर महिमभट्ट ने प्रतिभा को कवि का तृतीय नेत्र कहा है जो उपादानरूप भावों को साक्षात् करने का निमित्त है। वह स्वयं काव्यरूप में परिणत नहीं होती प्रत्युत

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा...................। -का० आ० १/१०३

२. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्। काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।। का० अ० १/५

३. कवित्वबीजं प्रतिभानम्। का० सू० वृ० १/३/१६

४. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्। का० प्र० प्रथमोल्लास

५. त्रिमूलकं द्विधोत्त्थानं पञ्चशाखं चतुष्छदम्।
योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स काव्यवित्।। य० ति० च० ३/२७४

त्रैलोक्यवर्ती भावों को आत्मसात् कर पुनः उन्हें शब्दार्थ के माध्यम से काव्यरूप में प्रस्तुत करती है।[१] अत एव वर्त्तमान शताब्दी में डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी इसे ही वेदान्त के ईश्वर के समान काव्य का उपादान और निमित्त भी मानते हैं।[२] विशेष रूप से भामह के उत्तराधिकारी कश्मीरी आचार्य काव्य के कारण के रूप में प्रतिभा को अधिक गौरव देते रहे हैं। भामह ने तो यहाँ 'जातु' पद का भी प्रयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि प्रतिभा के साथ-साथ कवि को प्रेरित करने वाली अनुकूल परिस्थितियों का होना भी आवश्यक है।

भामह के अनुसार यह काव्य की सहज उद्भूति और कवित्व की प्रथम कोटि है। इस प्रकार के प्रतिभासम्पन्न कवियों का यशःशरीर काव्य के रूप में चिरस्थायी रहता है।[३] परन्तु इस प्रतिभा के साथ-साथ उन्हें काव्यज्ञों के निर्देशन में अन्य कवियों के प्रबन्धों को देखकर इसके लिए सतत प्रयत्न भी करना चाहिए।[४] इस प्रकार सारस्वतसाधना में किया गया प्रयास फलवान् होता ही है।[५] ज्ञानराशि का प्रत्येक कण इन छात्रकवियों के अध्ययन का विषय बन जाता है।[६] इस विवेचन को परवर्ती चिन्तकों ने अभ्यास और व्युत्पत्ति नाम दिये। मम्मट ने प्रतिभा के साथ इन्हें समन्वित रूप से काव्य का हेतु मान लिया।

वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रों का प्रणयन छात्रकवियों को दृष्टि में रखकर किया था जो काव्यरचना में प्रवृत्त हो रहे थे। यही कारण है कि लोकव्यवहार

---

१. सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।। --व्य० वि० २/११८

२. उपादानं निमित्तं च काव्याय प्रतिभैव सा। --का० का० १०

३. उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।। --का० अ०, १/६

४. शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तदविदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। -वही, १/१०

५. श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
--का० आ०, १/१०४

६. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः। --का० अ०, ५/४

और शास्त्रज्ञान को उन्होंने सर्वोच्च प्राथमिकता दी। हेतु के लिए उन्होंने काव्याङ्ग शब्द का प्रयोग किया। लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्याङ्ग हैं।[१]

काव्य लोक का ही अनुवर्तन करता है।[२] लोकव्यवहारज्ञता का महत्त्व इसी दृष्टि से है। कवि के द्वारा अध्येय विद्याओं का तो सीमानिर्धारण हो ही नहीं सकता। ज्ञानमात्र काव्याङ्ग के रूप में गृहीत हो सकता है तथापि कुछ प्रधान कलाओं और शास्त्रों का उल्लेख वामन ने नामतः कर दिया है। इनमें से शब्दशास्त्र (व्याकरण), कोश, छन्दःशास्त्र, नृत्यगीतचित्रादि ललित कलायें, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि प्रमुख हैं।[३] वामन का यह उल्लेख भामह की सरणि पर ही किया गया प्रतीत होता है। काव्यालङ्कार में इस सन्दर्भ में व्याकरण, छन्दोविचिति, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाओं, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का परिगणन किया गया है।[४] यहाँ भामह की शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इत्यादि कारिका में शब्द और अभिधान दोनों पदों का प्रयोग है। अभिधान का अर्थ भट्टोद्भट के अनुसार है–अभिधाव्यापारप्रधान (अभिधान व्यापार)। यह गौण अर्थ का वाचक है, पुनरपि मुख्य अर्थ के साथ सम्बद्ध अवश्य होता है। वामन ने इसे ही सम्भवतः सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति कहा था। अथवा एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि प्राचीन काल में अभिधानकोश और छन्दःशास्त्र का अध्ययन भी काव्य के अङ्ग के रूप में किया जाता था। यह बात वि०ध०पु० से भी समर्थित होती है। वहाँ इन दोनों विषयों का सामान्य परिचय पृथक्-पृथक् अध्याय में दिया गया है। पी०वी० नागनाथशास्त्री ने अभिधान का अर्थ Nature of words (as conveying primary and secondary sense) तथा अर्थ शब्द का अर्थ meaning of words किया है। लोक और शास्त्रज्ञान जितना प्रखर होगा काव्यदोषों की सम्भावना उतनी ही कम हो जायेगी। देश, काल, कला, लोक और आगम विरोधी दोष कवि की अल्पज्ञता के कारण ही काव्य में प्रकट होते हैं।

---

१. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।--का० सू० वृ० १/३/१

२. लोकवृत्तं लोकः।-वही, १/३/२

३. शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।
-वही, १/३/३

४. शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः।।-का० अ०, १/९

प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत वामन ने जिन वृद्धसेवा, लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, अवेक्षण और अवधान हेतुओं[१] का उल्लेख किया है, उनका समाहार मम्मट के "काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास:"[२] अथवा भामह के "कृत्वा तद्विदुपासनाम्"[३] में ही किया जा सकता है। वामन ने इनका पृथक्-पृथक् और विस्तृत विवेचन छात्रकवियों के अनुरोध से किया। इन द्वितीय श्रेणी के कवियों के लिए अध्ययन के अनन्तर अभ्यास तो आवश्यक है ही, इसके लिए भामह ने काव्यज्ञ के निर्देशन को भी आवश्यक माना था।

पुनरपि प्रतिभान के विना काव्यत्व की उद्भूति कथमपि सम्भव नहीं।[४] परन्तु यहाँ प्रतिभान उस नैसर्गिक प्रतिभा का वाचक नहीं जिसके अभाव में भामह ने कवित्त्व की सम्भावना का ही निषेध कर दिया था। यहाँ प्रतिभा से अभिप्राय उस चेतना मात्र से है जिसके लिए विश्वनाथ ने 'वासना' पद का प्रयोग किया है, जो काव्यत्व के स्फुरण के लिए अनिवार्य है और जिसके अभाव में व्यक्ति रङ्गभवन में काष्ठकुड्याश्मसंनिभ ही होता है।[५] यह काव्यचेतना कवि में ही नहीं, भावक में भी होनी चाहिए।

इस सारे विवेचन को तीन शीर्षकों में बाँट लिया गया– प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्यों में मतभेद प्रतिभा और व्युत्पत्ति के सापेक्षिक महत्त्व को लेकर रहा। प्रारम्भिक काल में ही आनन्द प्रतिभा को और मङ्गल व्युत्पत्ति को अधिक महत्त्व देते थे। समाधि को ही काव्यहेतु मानने वाले आचार्य भी थे।[६] रुद्रट के द्वारा प्रतिभा का सहजा और उत्पाद्या के रूप में विभाग

---

१. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।।
- का० सू० वृ०, १/३/११

२. का० प्र०, १/३

३. का० अ०, १/१०

४. कवित्त्वस्य बीजं कवित्त्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कारविशेष:।
यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्।
--का० सू० वृ०, १/३/१६ वृत्ति

५. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्त: काष्ठकुड्याश्मसंनिभा:।। -सा० द०, तृतीय परिच्छेद

६. काव्यवर्त्मनि कवे:समाधि: परं व्याप्रियते इति श्यामदेव:। 'अभ्यास:' इति मङ्गल:। तावुभावपि शक्तिमुद्भावयत:। सा केवलं काव्यहेतुरिति यायावरीय:। --का० मी०, पृ० ११

करना और फिर सहजा को श्रेष्ठ कहना अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभावाद का ही समर्थन है।[१] प्रतिभा का प्रबल समर्थन महिमभट्ट और आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने भी किया। डॉ० नगेन्द्र ने वामन पर यह आरोप लगाया है कि वे इसे वाञ्छित गौरव नहीं दे सके।[२] इतने महत्त्वपूर्ण हेतु का परिगणन उन्होंने प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत अमुख्य स्थान पर किया है। वास्तव में इसका कारण उनके ग्रन्थ की विषय योजना थी। पुनरपि वे इसका उल्लेख अवश्य करते हैं। ''यह जन्मान्तरागत संस्कार विशेष है, जिसके विना काव्य निष्पन्न ही नहीं हो सकता।''[३] यह उसके अनिवार्य महत्त्व की स्वीकृति ही है। अन्ततः मम्मट ने एकवचनान्त हेतु शब्द का प्रयोग करके इस सारे विवेचन को समाहृत करने का प्रशस्त प्रयास किया।[४] परन्तु उसे भी पण्डितराज जगन्नाथ की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी। उन्होंने काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिरूप प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण स्वीकार किया है। यह कभी किसी देवता, महापुरुष आदि की कृपा से जन्य भी हो सकती है तथा कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी इसका संस्कार सम्भव है।[५]

काव्य के प्रयोजन भी कवि को काव्य में प्रवृत्त करते ही हैं। भामह और वामन के मध्यवर्ती काल में कीर्ति आदि की कामना से नागरक काव्यकर्म में प्रवृत्त होते थे। परिणामतः कविब्रुवों की बाढ़ ही आ गयी थी परन्तु प्रयोजन को कदाचित् काव्य के हेतु नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्रेरणा की दृष्टि से इनका भी कुछ महत्त्व अवश्य है। अस्तु।

काव्यहेतुओं के सम्बन्ध में भामह की उपजीव्यता निःसन्दिग्ध है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों के सङ्केत काव्यालङ्कार में सुलभ हैं।

---

१. सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।--का० अ०(रु०) १/६
२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १५
३. का० सू० वृ०, १/३/१६ वृत्ति।
४. त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।--का० प्र०, १/३ वृत्ति।
५. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।. .....तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टं क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ।--र० ग०, पृ० ९.

मम्मट के त्रितयवाद पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। प्रतिभा को तो वे प्रधानतम हेतु मानते ही थे। विशेष रूप से कश्मीरी आचार्य इस मत से प्रभावित रहे। दण्डी और वामन जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं वहाँ व्युत्पत्ति और अभ्यास को अपेक्षाकृत अधिक गौरव मिला है। तथापि कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र के उत्कर्षकाल में वामन उतने ग्राह्य नहीं हो पाये। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में जब आलोचना के प्रतिमान ही बदल गये तो वामन की प्रासङ्गिकता और भी कम हो गयी।

(ग) काव्य–शरीर और आत्मा

आलोचनाशास्त्र के ऐतिहासिक विकासक्रम में जब काव्यचर्चा नाट्य से पृथक् अलङ्कारशास्त्र के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व बना रही थी, उस समय इसे चिरन्तन आचार्य भामह का स्पर्श मिला। भरत के नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में लक्षणों का विवेचन करते हुए भट्टनायक ने अभिधा-व्यापारप्रधान कविकर्म को 'काव्य' संज्ञा दी।[१] यह अभिधा–व्यापार वहाँ होता है जहाँ शब्द और अर्थ दोनों का गुणीभाव रहता है।[२] भरत के विवेचन को ही आगे बढ़ाते हुए भामह ने शब्द और अर्थ इन दोनों के सहभाव को काव्यसंज्ञा प्रदान की।[३] परन्तु यह दृष्टि उससे भिन्न थी। इस सहभाव की कल्पना कालिदास ने पार्वतीपरमेश्वर[४] और तुलसीदास ने जलवीचि[५] के रूप में की। शब्दार्थ के सहभाव से अभिप्राय है, उनका तुल्यकोटिक महत्त्व । न तो यहाँ शास्त्र के समान केवल शब्द प्रधान होता है, न आख्यायिकादि के समान केवल अर्थ प्रधान। भामह के इसी कथन का अनुवाद करते हुए रुद्रट ने तो विना किसी विशेषण के ही शब्दार्थयुगल को काव्य कह दिया था[६] क्योंकि

---

१. भट्टनायकेनापि अतएव "अभिधाव्यापारप्रधानम्"–इत्युक्तम्।
--अ० भा०, १६/१ में उद्धृत

२. द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्। –अ० भा० में

३. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। --का० अ०, १/१६

४. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। --र० वं०१/१

५. गिरा अरथ जल वीचि सम। --रा० च० मा०

६. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। --का० अ० (रु०) ३/१

शब्दार्थौ पद में उभयपदार्थप्रधान (इतरेतर) द्वन्द्व स्वत: ही दोनों के सहभाव को सुतरां सिद्ध कर रहा है।

भामह का यह लक्षणवाक्य उस प्रसङ्ग में अवतरित हुआ है जब वे अपने समय में प्रचलित अलङ्कारवादियों के दो प्रमुख वादों का विश्लेषण कर रहे थे। इनमें से एक वाद रूपकादिरूप अर्थतत्त्व को काव्यसौन्दर्य का आधायक मान रहा था, दूसरा वर्ग पदविन्यास को महत्त्व देता था। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं सौशब्द्यवाद[१] के नाम से किया है। ये दोनों ही वाद भामह को समान रूप से ग्राह्य थे[२] क्योंकि शाब्दिक चमत्कार नितराम् अर्थशून्य नहीं होता और न ही आर्थिक चमत्कार अपने अभिधायक शब्दों के विना निष्पन्न हो सकता है। 'सहितौ' (साथ-साथ या समान रूप से) पद का यही स्वारस्य है। काव्यालङ्कार इन दोनों की चारुत्वमूलक प्रविधियों का विश्लेषण करता है। भामह के इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार ने यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में शब्द और अर्थ की अन्यूनानतिरिक्त रूप से वह अवस्थिति ही साहित्य है जो उसमें एक विशिष्ट शोभा का आधान करती है।[३] इसी भाव को प्रकारान्तर से इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है-अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभाव:। परन्तु शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व की स्थिति को स्वीकार करते हुए भी भामह का आग्रह अर्थ के प्रति ही अधिक प्रतीत होता है क्योंकि उनकी वक्रोक्ति शब्द और अर्थमूलक अलङ्कृतियों में चारुता की आधायक होते हुए भी प्रधान रूप से अर्थ का ही विभावन करती है।[४]

वामन के सामने काव्यलक्षण करते हुए भामह का अर्थप्राधान्यवाद और मङ्गल का सौशब्द्यवाद दोनों ही सिद्धान्त उपस्थित थे। दण्डी ने भी इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली को काव्य माना था।[५] वामन का आग्रह दाक्षिणात्य

---

१. तदेतदाहु: सौशब्द्यम्..........। --का० अ०, १/१५

२. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न: ।--वही, १/१५

३. साहित्यमनयो: शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति:।। --व० जी० १/७

४. ....अनयार्थो विभाव्यते।--वही, २/८५

५. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।--का० आ०, १/१०

परम्परा के प्रति स्पष्ट हैं। शब्दार्थयुगल में काव्यत्व मानते हुए भी वे पदरचना को ही अधिक महत्त्व देते हैं परन्तु काव्यत्व के आधायक शब्द और अर्थ दोनों है, इसमें सन्देह नहीं। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति का लक्षण अधिक परिष्कृत है। यह शब्दार्थ के साथ-साथ विधि-निषेध और सौन्दर्य की त्रयी का भी वाचक है। शब्दार्थयुगल तभी काव्यत्व का अधिकारी हो सकता है जब वह गुणालङ्कार से संस्कृत हो।[१] संस्कृत पद का यहाँ अभिप्राय है - गुण और अलङ्कारों का सुष्ठु प्रयोग जो दोषों से युक्त न हो।

स्पष्टत: दोषहान को वामन ने काव्यलक्षण में स्थान नहीं दिया क्योंकि वह काव्य का धर्म अथवा उपादान नहीं प्रत्युत काव्यनिष्पत्ति से पूर्व की अनुवीक्षा है। नित्यस्थिति गुण तथा अनित्यस्थिति अलङ्कार काव्यगत सौन्दर्य का आधान करते हैं और इस सौन्दर्य के कारण ही काव्य सहृदय के लिए संवेद्य हो पाता है।[२] यही काव्य का सर्वस्व है। यह सौन्दर्यवाद का उद्घोष वामन की अपनी विशेषता है। पूरी काव्यशास्त्रीय परम्परा में वामन के अतिरिक्त अन्य कोई भी आचार्य इतने स्पष्ट शब्दों में इस बात को नहीं कह सका। जगन्नाथ का 'रमणीय' पद[३] इस दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण है।

वामन के इस सौन्दर्यवाद का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है उसकी वस्तुनिष्ठता। सौन्दर्य के उपादानभूत गुण और अलङ्कार पदरचना का ही उपकार करते हैं। ध्वनि सम्प्रदाय की प्रक्रिया में काव्य के इस सारभूत तत्त्व का विवेचन आत्मपरक किया गया। गुण, अलङ्कार तथा रीतियाँ वहाँ शब्दार्थरूप काव्यशरीर के उत्कर्षक बने।[४] वामन ने अनुभविता की दृष्टि से समाधि नामक अर्थगुण में ही थोड़ा सा विचार किया है। "अर्थदृष्टि: समाधि:"[५] सूत्र पर टीका करते हुए गोपेन्द्र त्रिपुरहर समाधि को अवधान ओर दर्शन को ज्ञानविशेषरूप

---

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते। -का० सू० वृ०, १/१/१ वृत्ति
२. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कार:। -वही, १/१/१-२
३. रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्। -र० ग०, प्रथमानन
४. उत्कर्षहेतव: प्रोक्ता गुणालङ्काररीतय:। सा० द०, १/३
५. का० सू० वृ०, ३/२/७

मानते हैं।[१] सम्भवतः वामन को भी सौन्दर्य का यह संवेदन रूप ही इष्ट था। गुणों को भी उन्होंने संवेद्य कहा हैं।[२] वस्तुनिष्ठ होने पर भी सौन्दर्य सर्वसंवेद्य नहीं हो सकता क्योंकि अद्रव्य में वस्तु सार्थक नहीं होती[३], जैसे कतक पङ्क के प्रसादन में अक्षम है।[४]

काव्यगत चारुता की बात भामह ने भी कही थी परन्तु उनकी चारुता दोषहान और गुणालङ्कारादाननिष्ठ न होकर शब्दार्थवक्रता पर आश्रित थी।[५] वक्रता से अभिप्राय है कवि का वैचित्र्ययुक्त चमत्कारकारी कथन जिसे आगे चलकर कुन्तक ने वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कहा।[६] वस्तुतः कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का मूल भामह के इस कथन में ही निहित है। अर्थगाम्भीर्य, वक्रोक्तिरूपवैचित्र्य, अलङ्कारयुक्तता, अग्राम्यत्व, अर्थवत्त्व, न्यायसङ्गति और दोषराहित्य ही भामह के अनुसार काव्यत्व का आधान करते हैं। यदि ये गुण शब्दार्थ में वर्तमान हैं तो फिर चाहे वैदर्भ मार्ग हो अथवा गौड, सभी ग्राह्य हो सकते हैं।[७] कवियों के स्वभावोक्तिपूर्ण वर्णन भी यदि अग्राम्य, सार्थक और निर्दोष हैं तो भामह इनमें काव्यत्व का निषेध नहीं करते।[८] यद्यपि वक्रोक्तिपूर्ण वर्णन ही उन्हें अधिक प्रिय हैं। वक्रता का नाम आते ही वे अत्यन्त भावुक हो उठते हैं और उसे समस्त अलङ्कारों का मूल तक कह देते हैं।[९]

वामन के अनुसार समग्रगुणा वैदर्भी के आश्रय से अर्थसम्पत्ति तो क्या,

---

१. ननु समाधिरवधानम्, दर्शनं तु ज्ञानविशेषः। -वही, का० धे०

२. नासन्तः संवेद्यत्वात्। -वही, ३/१/२६

३. न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत्। -वही, १/२/४

४. न कतकं पङ्कप्रसादनाय। -वही, १/२/५

५. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। -का० अ०, १/३६

६. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।। -व० जी०, १/१०

७. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। -का० अ०, १/३५

८. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। -वही, १/३०

९. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना। -का० अ०, २/८५

अर्थ का लेश भी आस्वादनीय बन जाता है।[१] यही सहृदयहृदयावर्जक 'पाक' है, जिसका आश्रय लेकर शब्दश्री स्पन्दित होने लगती है तथा नीरस वस्तु भी सरस और आवर्जक प्रतीत होती है। यह शब्दों का विशिष्ट विन्यास ही है[२] जिसका अभ्यास छात्र कवियों के लिए अभीष्ट है। भामह का आग्रह यहाँ भी वक्रता पर ही है।[३] इन शब्दों और वर्णनों की उदात्तता तत्तद् वस्तु को ही अलङ्कृत कर सकती है, काव्य को नहीं।[४] तभी तो सरस होकर भी कुछ कवियों का काव्य अर्थव्युत्पत्ति के अभाव में हृद्य, सुगम और रमणीय नहीं बन पाता।[५]

संक्षेप में, वामन गुणात्मकधर्मविशिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। अलङ्कारों का महत्त्व काव्य में है अवश्य परन्तु वे उसके स्वरूप का आधान नहीं करते, केवल उसके उत्कर्ष का साधन बनते हैं। जबकि भामह अलङ्कारों की महत्ता के प्रतिपादक आचार्य हैं। वक्रोक्ति, जिसे भामह समस्त अलङ्कारों का मूल और काव्य का सर्वस्व कहते हैं, का० सू० वृ० में इसकी गणना सामान्य उपमामूलक अलङ्कारों के प्रसङ्ग में हुई है। इससे काव्यसौन्दर्य में वृद्धि तो होती है परन्तु वह काव्यत्व का नित्य धर्म नहीं है। भामह और वामन का विरोध इसी बिन्दु पर है। वामन ने जिस पद पर सौन्दर्य को प्रतिष्ठित किया, भामह के यहाँ वह स्थिति वक्रोक्ति की है। भामह की वक्रता सभी अलङ्कारों का मूल है, वामन का सौन्दर्य गुणों से निष्पन्न होता है।

वामन के अनुसार गुण नित्य रूप से काव्यसौन्दर्य के आधायक हैं। दूसरी ओर वे इन्हीं के पदपदार्थगत रचनावैशिष्ट्य को रीति के नाम से अभिहित करते हैं।[६] अतः कार्यकारण में अभेद मानते हुए उसे भी काव्यात्मा कहा

---

१. तस्यामर्थगुणसम्पदा स्वाद्या। तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि। -का० सू० वृ०, १/२/२०-२१

२. आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।। - वही, १/३/१५ वृत्ति।

३. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते। -का० अ०, ५/६६

४. तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः। -वही,

५. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थमामञ्च केषाञ्चित्सदृशं यथा।। -का० अ०, ५/६२

६. विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। -का० सू० वृ०, १/२/७-८

ही जा सकता है। वामन की रीति भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही तत्त्वों से समन्वित है तथापि प्रधान रूप से उसका सम्बन्ध कथनप्रकार से है। वामन की यह स्थापना उस समय तक प्रचलित एक अन्य सिद्धान्त के विरोध में विकसित हुई जो प्रेषणीय भावों को ही काव्य का सर्वस्व मानता था। आधुनिक समालोचना की शब्दावली में इन दोनों मतों को क्रमशः रीतिवाद (फार्म) और भाववाद (कण्टैण्ट्स) के समानान्तर रखा जा सकता है। भामह का सिद्धान्त भाववाद का प्रारम्भिक रूप है जो बाद में जाकर ध्वनि और रस के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इसीलिए रस और ध्वनिवाद के प्रवर्त्तकों ने भामह का उतना विरोध नहीं किया जितना वे वामन के रीतिवाद का करते हैं। भामह की वक्रोक्ति अर्थ का विभावन करती है, वामन अर्थ की अपेक्षा कलात्मक कथन प्रकार को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका यह मन्तव्य है कि भावप्राधान्य की दृष्टि से तो शास्त्र भी काव्य के समकक्ष ही है परन्तु विचार सुन्दर पदावली में निबद्ध होकर ही काव्यत्व का आधान करते हैं और उसे शास्त्र से पृथक् करते हैं।

रीति को वामन ने स्पष्ट रूप से काव्य की आत्मा कहा है[१] परन्तु दूसरे ही क्षण वे इसकी तुलना चित्र की रेखाओं के साथ करने लगते हैं।[२] इस प्रकार रीति काव्य के अन्तस्तत्त्व से च्युत होकर शरीरमात्र तक सीमित रह जाती है और गुण भी इसके साथ जुड़ते ही आत्मत्व से च्युत हो जाते हैं। गुण रीति के उपकारक हैं और रीति गुणनिष्ठ है। ये दोनों तत्त्व मिलकर सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, दोनों ही का केन्द्रबिन्दु सौन्दर्य है। अतः निष्कर्ष रूप से यह सौन्दर्य ही वामनसम्मत काव्य की आत्मा है जिसका सम्बन्ध पद और पदार्थ की शोभामूलक अवस्थिति से है।

समाहार रूप में कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न विशेषणों के साथ शब्दार्थयुगल काव्यत्व का अधिकारी है, इस निर्णय पर दोनों ही आचार्य एकमत हैं, यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से भामह अर्थ को और वामन शब्दविन्यास को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वामन के अनुसार शब्दार्थरूप यह शरीर निर्दोष

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। -का० सू० वृ०, १/२/६
२. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। -वही, १/२/१३ वृत्ति।

और सालङ्कार होकर ही उत्कर्ष को प्राप्त होता है, भामह के अनुसार अर्थगाम्भीर्य और न्यायसङ्गति का होना भी अनिवार्य है। काव्यालङ्कार में जो गौरव अलङ्कारों का है, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में वही स्थिति गुणात्मक धर्म-विशिष्टता की है। भामह के अलङ्कारों की चारुता काव्यात्मभूत वक्रोक्ति से निष्पन्न होती है, वामन की प्रक्रिया में सौन्दर्यात्मत्व का आधान गुणविशिष्ट रीति करती है।

(घ) काव्य-भेद

वाचिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का गद्य-पद्यात्मक विभाजन प्रारम्भ से ही स्वीकार किया जाता रहा है जिसका प्रमुख आधार लयहीनता और लयात्मकता, एवं च छन्दोहीनता और छन्दोबद्धता ही है। भामह[१] और वामन[२] इन दोनों ही आचार्यों ने काव्य को प्रधान रूप से इसी आधार पर विभक्त किया है। संयोग से, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि समान्य व्यवहार का माध्यम होने के करण यहाँ गद्य का पूर्वनिर्देश होता रहा है परन्तु वामन ने इस पर हेतु उपस्थित करते हुए कहा है कि गद्यरचना अपेक्षाकृत दुर्ज्ञेय और दुर्बन्ध होती है। उन्होंने एक प्राचीन आभाणक भी उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि "गद्य ही कवियों की कसौटी है"।[३] गद्य की इस प्रकार की संस्तुति का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय गद्यसाहित्य बहुत ही अल्प मात्रा में लिखा जाता था। वाङ्मयमात्र पद्यरूप में उपलब्ध होता है चाहे वर्ण्यवस्तु शास्त्रीय हो अथवा कलाविषयक। गद्य का वृत्तगन्धि नामक भेद भी पद्य के प्रति काव्यज्ञों के आकर्षण को अभिव्यक्त करता है। अस्तु।

भामह ने गद्य और पद्य का केवल नाम्ना निर्देश किया है, उनकी विशिष्ट व्याख्या नहीं की। वामन ने इनके अवान्तर भेद उपस्थित किए हैं। गद्य के

---

१. गद्यं पद्यं च तद्द्विधा। -का० अ०, १/१६

२. काव्यं गद्यं पद्यं च। -का० सू० वृ०, १/३/२१

३. गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात्। तथाहुः गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। -वही, वृत्ति

चूर्णक[१] और उत्कलिकाप्राय[२] नामक भेद क्रमशः समास की अल्पता और आधिक्य को लेकर निर्धारित किए गए हैं। बहुत बाद में जाकर विश्वनाथ ने नितान्त समासहीन रचना के लिए इनमें मुक्तक नामक एक प्रभेद जोड़ा।[३] परन्तु यह भेद केवल सम्भावनामात्र को लेकर कल्पित किया गया है, अन्यथा समासप्रधाना संस्कृत भाषा के साहित्य में इस प्रकार की सर्वथा समासहीन रचना को ढूँढ़ पाना असम्भव ही है। वामन के अनुसार एक अन्य प्रभेद वृत्तगन्धि गद्य का है, जहाँ गद्यात्मक विधा में कोई बन्धन न होने पर भी सहज रूप में किसी वृत्त की गन्ध आ जाये।[४] जैसे "पातालतालुतलवासिषु दानवेषु" इस पंक्ति में वसन्ततिलका नामक वृत्त की छाया प्रतीत हो रही है।

पद्य क्योंकि छन्द पर ही आधारित होता है, अतः छन्दोऽनुरोधेन इसका विभाजन समवृत्त (जिसके सभी पाद तुल्य लक्षण वाले हों), अर्धसम (जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद समलक्षण हों) तथा विषम (जिसके चारों पादों के लक्षण भिन्न-भिन्न हों) आदि रूप में अनेक प्रकार से किया जा सकता है।[५] 'आदि' पद से आर्या इत्यादि मात्रावृत्तों का ग्रहण किया जाता है जिसके प्रथम और तृतीय चरण समलक्षण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण विषम लक्षणों से युक्त होते हैं।

भामह और वामन के मध्यवर्ती दण्डी ने गद्य और पद्य के अतिरिक्त 'मिश्र' नामक एक अन्य प्रभेद की कल्पना की[६], जो आगे चलकर ग्राह्य भी हुआ। वामन ने इस भेद का तो उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके मिश्र-रूप रूपक को न केवल काव्य-भेद के रूप में ही स्वीकार किया, प्रत्युत अन्य भेदों की अपेक्षा से इसे श्रेय भी बताया।[७]

गद्य-पद्यात्मक काव्य का वामन ने एक अवान्तर विभाजन निबद्ध और

---

१. अनाविद्धललितपदं चूर्णम्। -का०सू०वृ०, १/३/२४
२. विपरीतमुत्कलिकाप्रायम्।
विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम्। -वही, १/३/२५ एवं वृत्ति।
३. आद्यं (मुक्तं) समासरहितम्। -सा०द०, ६/३३०-३१
४. पद्यभागवद्वृत्तगन्धि। -का०सू०वृ०, १/३/२३
५. पद्यमनेकभेदम्।
पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति। -वही,१/३/२६,एवं वृत्ति।
६. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्। -का० आ०, १/११
७. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। -का०सू०वृ०, १/३/३०

अनिबद्ध के रूप में किया है।[१] वृत्ति से स्पष्ट होता है कि निबद्ध काव्य दशरूपक, महाकाव्य, कथा और आख्यायिकारूप है।[२] भामह ने भी काव्य के यही पाँच प्रभेद माने हैं।[३] इनमें से कथा और आख्यायिका गद्य के प्रभेद हैं, सर्गबन्ध और अनिबद्ध पद्य के । नाटक को डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने मिश्ररूप माना है[४] परन्तु एक तो मिश्र काव्य की भामह ने सत्ता ही नहीं मानी और फिर नाटक का लक्षण न देकर उन्होंने उसके जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे सभी गीतिनाट्य के हैं। अतः भामह के स्वमत का ऊहापोह करते हुए उसे पद्य का प्रभेद मानना ही अधिक उचित है। परन्तु दण्डी ने जिसे मिश्रकाव्य कहा है वही आगे चलकर 'चम्पू' के नाम से विश्रुत हुआ।

भामह का श्लोकमात्र (अथवा यदि प्राकृत में काव्यरचना हो तो गाथामात्र) तक सीमित अनिबद्ध काव्य वही है[५] जिसका उल्लेख दण्डी ने मुक्तक, कुलक, संघात या कोशादि भेदों के रूप में किया है। क्योंकि ये सर्गबन्ध के अंशरूप ही हैं, अतः काव्यादर्श में इनका विस्तृत विवेचन न करके सीधे महाकाव्य का ही व्याख्यान है।[६] वामन ने भी इस अनिबद्ध काव्य की इतनी ही उपयोगिता मानी है कि इसमें काव्यरचना की योग्यता आ जाने पर प्रबन्धकाव्य के निर्माण में वैशिष्ट्य प्राप्त किया जा सकता है, जैसे माला की सिद्धि होने पर ही शेखर का निर्माण सम्भव है।[७] स्वतन्त्र रूप से तो इस प्रकार की रचना एकतेजः परमाणु की तरह कभी प्रकाशित नहीं होती।[८]

निबद्ध काव्यों में वामन के अनुसार दशरूपक श्रेष्ठ है क्योंकि वह

---

१. तदनिबद्धंनिबद्धं च। -वही, १/३/२७

२. दशरूपकस्यैव हीदं विलसितम्। यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।
-वही, १/३/३२ की वृत्ति।

३. सर्गबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।। -का०अ०, १/१८

४. डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा, का० अ०, भूमिका, पृ०२२

५. अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः। -का० अ०, १/३०

६. मुक्तकं कुलकं कोशः सङ्घात इति तादृशः।
सर्गबन्धाङ्गरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः।। -का० आ०, १/१३

७. क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्। -का० सू० वृ०, १/३/२८

८. नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत्। -वही, १/३/२९

चित्रपट के समान वर्ण्य विषय को आँखों के सामने ला देता है।[१] दूसरी ओर भामह ने केवल इसके प्रमुख तीन-चार भेदों का उल्लेख भर करके ही इस विवेचन को समाप्त कर दिया कि ग्रन्थान्तरों में इस पर विस्तार से विचार किया गया है।[२] भामह का काव्यालङ्कार काव्यशास्त्र के विकास की दूसरी अवस्था है, जब काव्यचर्चा नाट्य से सर्वथा पृथक् हो चुकी थी। विकास की तीसरी अवस्था में नाट्यचर्चा ही काव्यशास्त्र की आनुषङ्गिक बन गयी। इसका थोड़ा सा सङ्केत भामह के इस उल्लेख से भी मिलता है। वामन के समय तक यह बातऔर परिनिष्ठित हो गयी थी, परन्तु अब भी उसका विवेचन पृथक् ग्रन्थों में ही किया जाता था। काव्यालङ्कारसूत्र लिखते हुए वामन ने केवल तीन सूत्रों में इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया।[३]

सत्य तो यह है कि वामन ने किसी भी काव्यभेद पर विस्तार से कुछ नहीं कहा, वे इस प्रश्न को महत्त्व ही नहीं दे पाये। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षण अत्यन्त आवर्जक नहीं हैं और फिर पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि ने इन विषयों पर बहुत कुछ कह दिया है, अतः अब इस पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं रही।[४] परन्तु भामह का नाम आद्य आलङ्कारिकों में लिया जाता है। वे अलङ्कारतन्त्रप्रजापति हैं और इस विषय पर उनकी स्थापनायें न केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं प्रत्युत सम्पूर्ण पश्चाद्वर्ती परम्परा पर उन्होंने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है।

महाकाव्य[५] के दो प्रधान तत्त्व हैं- वस्तु और नेता। इन्हीं से सम्बद्ध

---

१. तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्। -वही, १/३/३१
२. नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः।। -का० अ०, १/२४
३. का० सू०वृ०, १/३/३०-३२
४. यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति तल्लक्षणं च नातीव हृदयङ्गममित्युपेक्षितमस्माभिः। तदन्यतो ग्राह्यम्। -वही, १/३/३२ की वृत्ति
५. भामहकृत महाकाव्यलक्षण इस प्रकार है-
सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम्।।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।। -का० अ०, १/१९-२२

दो विशेषण–''महतां च महच्च'' महाकाव्य में महत्त्व का आधान करते हैं। सर्गबद्धता तो महाकाव्य का पर्याय ही बन गया परन्तु सर्गों की संख्या के विषय में उनके महत् विशेषण की व्याख्या बाद में विश्वनाथ ने ''नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह''[१] कहकर की। मन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध तथा पुरुषार्थचतुष्टय के समृद्धिपूर्ण वर्णन के लिए ''युक्तं लोकस्वभावेन'' की निर्धारित सीमा जहाँ एक ओर काव्य को लौकिक और सामाजिक बनाती है, वहाँ दूसरी ओर ये वर्णन इस बात के भी प्रतीक हैं कि महाकाव्य राजाओं, राजपरिवारों और राजनीति से पृथक् नहीं हो पाया था। अपने आश्रयदाता और उसके वंश की प्रशंसा ही महाकाव्य की प्रमुख विषयवस्तु थी। उनका 'भूयसार्थोपदेशकृत्' विशेषण इस निर्णय को और अधिक पुष्ट करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर विषयवस्तु सम्बन्धी यह विवेचन बड़ा एकदेशीय सा प्रतीत होता है।

नायक यदि महत् और सत् है तो उसके अभ्युदय का वर्णन होना ही चाहिए। वस्तुतः यही दो विशेषण नायक के लिए संक्षिप्ततम और उपयुक्ततम कहे जा सकते हैं। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण परम्परा का नायक सम्बन्धी विवेचन इन्हीं दो शब्दों की व्याख्यामात्र है। परन्तु आगे चलकर जब वे केवल उसके राजनैतिक अभ्युदय को ही अपने विवेचन का लक्ष्य बना लेते हैं तो उसमें भी राजदरबार की सङ्कीर्णता की गन्ध आने लगती है।

इन दो प्रधान तत्त्वों के अतिरिक्त काव्यशिल्प सम्बन्धी उनकी स्थापनायें पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं। भामह अलङ्कारवादी आचार्य हैं परन्तु उनके 'सालङ्कारम्' विशेषण का वास्तविक मर्म उनकी वक्रोक्ति सम्बन्धी उद्घोषणा ''कोऽलङ्कारोऽनया विना'' की पृष्ठभूमि में ही हृदयङ्गम किया जा सकता है। दूसरी ओर ''रसैश्च सकलैः पृथक्'' की मान्यता पुनः उस नाट्यचर्चा का स्मरण कराती है, जो धीरे–धीरे काव्यशास्त्र में समाहित होती जा रही थी। ऐसे में एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ना स्वाभाविक ही था। रसवत्ता की यह स्वीकृति निश्चय ही दृश्य काव्य के प्रभाव से श्रव्य काव्य में आयी होगी। पञ्च नाट्यसन्धियों का महाकाव्य में आना इस बात

---

१. सा० द०, ६/३२०

को और अधिक पुष्ट करता है। पश्चात्काल में विश्वनाथ ने भी भामह के अनुकरण पर महाकाव्य के नाटयसन्धियों से युक्त होने की बात कही थी।[१] श्रव्य काव्य में रसवाद की स्वीकृति भी भामह की मौलिक देन है। यहाँ 'अनतिव्याख्येय' विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नारिकेलपाक सदृश व्याख्यासापेक्ष काव्य से रसानुभूति सामान्य सहृदय के लिए सहज नहीं है।

अलङ्कार और रस के अतिरिक्त अग्राम्य शब्द और अर्थसौष्ठव यद्यपि रसानुभूति के साधनमात्र ही हैं, अतएव इनका पृथक् निर्देश आवश्यक नहीं था, तथापि यह कथन इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि ये दोनों तत्त्व रसप्रतीति के महनीय साधन हैं, अत: कवि की इनके प्रति सतर्कता विशेष रूप से इष्ट है।

पद्य में जो महाकाव्य था, गद्य में उसे ही आख्यायिका कहा गया। अक्लिष्ट और श्रुतिसुखद गद्य में कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ आदि से समन्वित उदात्त विषय का निबन्धन आख्यायिका की सृष्टि करता है। इसमें नायक द्वारा उक्त कथानक का विभाजन उच्छ्वासों में होता है तथा वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के द्वारा भावी घटनाओं की सूचना दी जाती है।

कथा से उसका विभाग इन अन्तिम तीन विशेषताओं के आधार पर किया जाता है अर्थात् इसमें कथानक नायक द्वारा उक्त न होकर अन्य पात्रों द्वारा वर्णित होता है। इसका विभाजन उच्छ्वासों में नहीं होता और न ही वक्त्रापरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त आख्यायिका का जहाँ संस्कृत में निबद्ध होना अनिवार्य है, कथा संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में भी रचित हो सकती है।[२] दण्डी ने भामह की इस एक-एक स्थापना का

१. ......सर्वे नाटकसंधय:।-सा०द०, ६/३१७.

२. प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता।।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च।।
कवेरभिप्रायकृतै: कथनै: कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयान्विता।। -का० अ०, १/२५-२७

डटकर विरोध किया, क्योंकि भेद विभाग के ये सभी आधार बड़े अकिञ्चित्कर हैं।[१] उत्तरवर्ती काल में ये अलग-अलग विधायें तो बनी रहीं, वामन ने भी इन्हें मान्यता दी[२] परन्तु विश्वनाथ आदि ने इसका स्वरूप निरूपण करते हुए दण्डी के तर्कों का पर्याप्त समादर किया तथा भामह की स्थापना नाम्ना स्वीकृत होकर भी स्वरूपत: भिन्न हो गयी।

वर्ण्य विषय के आधार पर भी भामह ने काव्य का चतुर्धा विभाग किया है।[३] काव्य की वस्तु या तो अपनी कल्पना से प्रसूत कथा हो सकती है अथवा रामायण, महाभारत वा पुराणादि में वर्णित किसी ऐतिहासिक आख्यान को अग्राम्य शब्दार्थों से अलङ्कृत और सरस बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। भामह के समय में शास्त्रों अथवा कलाओं को उपजीव्य बनाकर भी कुछ रचनायें लिखी जाती रही होंगी। व्याकरण-शास्त्र ही को उपजीव्य बनाकर लिखा गया भट्टिकाव्य तो आज भी उपलब्ध होता है। महाभारत के विषय में आनन्दवर्धन ने कहा है कि यह शास्त्रकाव्य की छाया से युक्त है। शास्त्र के रूप में यहाँ मोक्ष का प्राधान्य है तथा काव्य के रूप में शान्तरस ही अङ्गीरूप में व्यवस्थित है। फिर भी यह विभाजन बाद में स्वीकार्य नहीं हुआ। सम्भवत: यह भामह की अपनी कल्पना थी जिसे बाद के आचार्यों ने नहीं माना।

संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश में भी उस समय काव्य-रचना की जाती थी।[४] इससे जहाँ एक ओर यह बात प्रमाणित होती है कि किसी भी भाषा में लिखी गयी उत्तम काव्यरचना सहृदयों को ग्राह्य होती है, वहाँ दूसरी ओर काव्य की लोकनिष्ठता भी व्यक्त होती है। ज्यों-ज्यों काव्य अधिक लोकनिष्ठ होता गया, भाषाओं की संख्या बढ़ती गयी। दण्डी ने इन तीनों के मिश्रित भेद[५] के अतिरिक्त भूत भाषा में रचित 'सेतुबन्ध'

---

१. का० आ०, १/२३-२६

२. का० सू० वृ०, १/३/३२ की वृत्ति।

३. वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुन:।।-का० अ०, १/१७

४. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। -वही, १/१६

५. तदेतद्वाङ्मयं भूय: संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।।-का० आ० १/३२

काव्य का भी उल्लेख किया है।[१] मागधी और शौरसैनी जो प्राकृत के ही भेद थे, बाद में स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हुए। विश्वनाथ तक आते-आते भाषाओं की संख्या १६ तक पहुँच गयी। इससे दण्डी की मिश्रभाषा की कल्पना और अधिक विकसित हुई जिसका चरम परिपाक भाषासम अलङ्कार के रूप में व्यक्त हुआ।[२] परन्तु इस समस्त प्रपञ्चविस्तार के मध्य भामह की भाषा सम्बन्धी सङ्कल्पना उपजीव्य बनी रही।

❑❑❑

१. भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्। -वही, १/३८

२. सा० द०, १०/१०

चतुर्थ विमर्श

काव्य-दोष विचार

काव्यगोष्ठियों अथवा व्याकरणादि शास्त्रों के प्रभाव के कारण काव्यशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था में दोषों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया जो किसी न किसी रूप में अन्त तक भी ग्रहण किया जाता रहा यद्यपि काव्यसमीक्षा के प्रतिमान बदल जाने के कारण ध्वन्युत्तरवर्ती काल में उनके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो चला था। काव्यशरीर के स्थान पर जब काव्यात्मविवेचन की प्रधानता बढ़ी तो दोषों का सम्बन्ध भी काव्य के आत्मतत्त्व के साथ जोड़ दिया गया। आचार्य विश्वनाथ ने आत्मभूत रस का अपकर्ष करने वाले तत्त्वों को दोष कहा[१] परन्तु दूसरी ओर जब वे गुणों को इसका उत्कर्षक बताते हैं[२] तो सहसा आचार्य भरत की टिप्पणी का स्मरण हो आता है। उन्होंने दोषों के विपर्यस्त रूप में गुणों का भाव स्वीकार किया था।[३] अन्यत्र वामन ने गुणों के विपर्यय को दोष कहा[४] जैसे अन्धकार और प्रकाश के द्वन्द्व में कोई एक दूसरे का अभाव न होकर स्वरूपत: विरोधी हैं उसी प्रकार गुणों का स्वरूप और दोषों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, दोनों ही लक्षणवाक्यों का इस लक्ष्यार्थ में पर्यवसान होता है। का० सू० वृ० के का० धे० टीकाकार भी इस सन्दर्भ में विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानते हैं।[५]

---

१. दोषास्तस्यापकर्षका:। -सा० द०, १/३

२. उत्कर्षहेतवस्ते स्युर्गुणालङ्काररीतय:। -वही

३. एते दोषास्तु विज्ञेया: सूरिभिर्नाटकाश्रया:।
एत एव विपर्यस्ता गुणा: काव्येषु कीर्तिता:।। -ना० शा०, १६/९५

४. गुणविपर्ययात्मानो दोषा:। - का०सू०वृ०, २/१/१

५. विपरीयन्त इति विपर्यया विपरीता:। ....त एवात्मानो येषां ते विपर्ययात्मानो विपरीतस्वभावा:। न त्वभावरूपा इत्यर्थ:। अनेन गुणविपरीतस्वरूपत्वं दोषसामान्यलक्षणमुक्तं भवति। -वही, का० धे०

भामह का दोषनिरूपण यद्यपि पर्याप्त विस्तृत है तथापि उन्होंने दोष की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी। काव्यालङ्कार की अवतरणिका में उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि काव्य में सदोष पद का प्रयोग कुपुत्र के समान निन्दनीय होता है।[१] इस प्रकार की कविता विद्वान् के लिए साक्षात् मरण कही गयी है[२] तथापि प्रथम परिच्छेद के अन्त में दोषों की गुणरूपता का आख्यान करते हुए उन्होंने कहा है कि सन्निवेशवैशिष्ट्य के कारण ये दोष भी कहीं-कहीं काव्य में शोभा का आधान करते हैं।[३] अत: कहा जा सकता है कि भामह के अनुसार दोषों का स्वरूप सामान्यत: "काव्यशोभाविघातक" है। दूसरे, भामह के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है अत: उनके स्वमत में "वक्रोक्ति में हीनता" भी दोष का लक्षण हो सकता है।

वामन विना किसी भूमिका के इस विवेचन को प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार गुणों का स्वरूप काव्याशोभाकर्तृत्व है[४] और दोष यदि उसके विपर्यय हैं तो उनका स्वरूप काव्यशोभाहर्तृत्व होना चाहिए। गुणविपर्ययात्मानो दोषा: २.१.१. पर वृत्ति लिखते हुए स्वयं आचार्य वामन ने कहा है कि दोष काव्यगत सौन्दर्य को नष्ट करने वाले होते हैं, अत: काव्य में इनके परित्याग के लिए छात्रकवि को इनका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।[५] और इसीलिए उन्होंने काव्यस्वरूप का निरूपण करते हुए कहा था कि सौन्दर्यनिष्पत्ति, जिसके कारण से ही काव्य ग्राह्य हो पाता है,[६] वह प्रथमत: दोषों के त्याग और पुन: गुण और अलङ्कारों के ग्रहण से ही सम्पन्न होती है[७] क्योंकि दोष सौन्दर्यसंवेदन में निमग्न सहृदयहृदय में उद्वेग उत्पन्न करते हैं।[८] इस

१. विलक्ष्मणा हि काव्येन दु:सुतेनेव निन्द्यते। -का० आ०, १/११
२. कुकवित्वं पुन: साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिण:। -वही, १/१२
३. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते। - वही, १/५४
४. काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा गुणा:। -का० सू० वृ०, ३/१/११
५. काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या:। वही, २/१/१ पर वृत्ति
६. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कार:। वही, १/१/१-२
७. स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। -वही, १/१/३
८. -तद्धि रचनागुम्फितमप्युद्वेजयति। का० सू० वृ० २/१/६ पर वृत्ति
-उद्वेजनीयं तु सतां तदुक्तम्। - वि० ध० पु०, ३/१६/१०
-उद्वेगजनको दोष: सभ्यानाम्। -अ० पु०, ३४७/१

प्रकार वामन ने भामह और दण्डी के विशृङ्खलित विवेचन को वैज्ञानिक आधार दिया परन्तु भरत और वामन जहाँ क्रमशः दोषों के निकष पर उनके विपरीत रूप गुणों और गुणों के निकष पर उनके विपरीतरूप दोषों की सत्ता मानते हैं, वहाँ भामह काव्य के निकष पर गुण और दोष दोनों का स्वरूप निर्धारण करते हैं। वामन के अनुसार दोष गुणों के विरोधी हैं परन्तु भामह के अनुसार सामान्य रूप से काव्यत्व के विघातक।

एक बात और, वामन का सौन्दर्यवाद गुणात्मकधर्मविशिष्टता के आधार पर खड़ा है जिसका सम्बन्ध पदरचनारूप रीति से है-नितान्त वस्तुनिष्ठ। एवञ्च, दोष भी काव्यशरीर की बाह्य विकृतियाँ मात्र हैं। आत्मतत्त्व तो गुण और दोष की सीमाओं से अपरिच्छिन्न ही है। अतएव दोषों का भेदविभाग भी उन्होंने पदपदार्थ और वाक्यवाक्यार्थ के आधार पर किया। वस्तुतः काव्य् को शब्दार्थोभयनिष्ठ मान लेने पर यह प्रासङ्गिक ही है। आगे चलकर गुणों को भी उन्होंने शब्द और अर्थ दो प्रकार का कहा और उन्हीं से प्रेरणा लेकर आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के दश गुणों की व्याख्या शब्द और अर्थ के रूप में दो-दो प्रकार से की यद्यपि इन दोनों के परस्पर अत्यन्त श्लिष्ट होने के कारण अन्तपर्यन्त इनके पार्थक्य का निर्वाह कर पाना सहज नहीं है। यही कारण है कि वामन के कई दोष एक दूसरे का सङ्क्रमण करते लक्षित होते हैं तथापि यह वामन की अपनी स्थापना है जिसे परवर्ती काल में मम्मट और विश्वनाथ तक ने भी माना। भामह शब्दार्थ दोनों को समान रूप से इष्ट मानकर भी स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं कह पाये थे।

काव्यालङ्कार के दोष परिच्छेद चतुर्थ और पञ्चम के अतिरिक्त, जहाँ ग्यारह काव्यदोषों का वर्णन हुआ है, प्रथम परिच्छेद के अन्त में भी छः और चार के दो वर्गों में दश दोषों का विवेचन हुआ है। भामह द्वारा इन विभिन्न वर्गों में दोषों के विभाजन का आधार स्पष्ट नहीं हो पाया। डा० नगेन्द्र का यह मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि विभिन्न वर्गों में विवेचित दोष भिन्न-भिन्न आचार्यों की सम्मतियाँ है, जिनका भामह ने सङ्ग्रह

किया है।[1] क्योंकि प्रथम परिच्छेद के एक वर्ग में जहाँ चार दोषों का उल्लेख है, उनमें से तीन केवल अश्लील का परिहार करने वाले हैं और काव्य के सभी मुख्य दोष उस वर्ग में नहीं आ पाते। डा० चतुर्वेदी के अनुसार प्रथम वर्ग के दोष वक्रोक्ति से सम्बद्ध हैं।[2] इनका अवतरण भी वक्रोक्तिविषयक चर्चा के प्रसङ्ग में हुआ है, परन्तु भामह के मत में काव्य यदि वक्रोक्तिसर्वस्व ही है तो फिर अपार्थ, व्यर्थ आदि दोषों का सम्बन्ध वक्रोक्ति से क्यों नहीं है। ग्राम्य आदि जिन दोषों का उल्लेख भामह ने प्रकीर्ण रूप से किया है, वे क्या वक्रोक्ति से जुड़े हुए नहीं हैं? ये सब प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं। सम्भवत: यह विभाजन यादृच्छिक है।

भामह का दोषविवेचन एक अन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ही सर्वप्रथम दोषों के दोषाभाव तथा विशेष परिस्थिति में गुण तक हो जाने का विधान किया है। एकार्थ दोष भय, शोकादि की स्थितियों में विशिष्ट काव्यसौन्दर्य का आधान करता है।[3] इन्हीं परिस्थितियों में इसके दोषाभाव की बात विष्णुधर्मोत्तरकार ने भी की थी।[4] यदि उत्कण्ठाधिक्य के कारण कोई उन्मत्त की तरह प्रलाप करे तो उस परिस्थिति में अयुक्तिमत् भी दोष नहीं रहता।[5] दोषों की गुणात्मकता के आधारभूत दो कारणों की ओर भी भामह ने सङ्केत किया है। सन्निवेशप्रकार की विशेषता से दुरुक्त भी श्वेत पुष्प की माला के मध्य निबद्ध नीलपलाश की तरह सुशोभित होता है।[6] इस परिवर्तन का दूसरा कारण आश्रयसौन्दर्य है, जैसे कान्ता के नेत्रों में

---

१. डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६२

२. डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, महिमभट्ट, पृ० २२३-२४

३. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदु:।। - का० अ०, ४/१४

४. विस्मये वाऽभ्यसूयायां भयशोकत्वरासु च।
हर्षे ~ वीप्सा कर्त्तव्या पुनरुक्तं न तद्विदु:।। - वि० ध० पु०, ३/१५/११

५. यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभि: प्रयुज्यते।। -वही, १/४४

६. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। -का० अ०, १/५४

न्यस्त मलिन अञ्जन।[१] वामन दोषहान के प्रति कुछ अधिक सतर्क थे। श्रुतिकटु पद उनके अनुसार रचना में गुम्फित होकर भी उद्वेग ही उत्पन्न करते हैं।[२] हाँ, इनके स्थूल और सूक्ष्म रूप की ओर उनमें सङ्केत अवश्य मिलता है।[३] कम से कम चार स्थलों पर उन्होंने भी दोषों के गुणरूप हो जाने की बात कही है। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने जो दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व का विभाग किया, उसका मूल भी भामह की इस परिकल्पना में ही निहित है।

काव्यालङ्कार के चतुर्थ परिच्छेद में परिगणित दोषों का उद्गमस्थल भरत का नाट्यशास्त्र है। इनके कुछ दोष तो नाम्ना और स्वरूपत: अभिन्न ही हैं। भामह का प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन दोष[४] जिसके विवेचन में ग्रन्थ का सम्पूर्ण पञ्चम परिच्छेद व्यय हुआ है, निश्चय ही काव्यगोष्ठियों में न्यायशास्त्र की चर्चाओं के प्रभाव से आया होगा। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह भामह की मौलिक स्थापना है। सम्भवत: इसकी प्रेरणा इन्हें भरत के 'न्यायादपेत' शब्द से मिली हो। हाँ , विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रतिज्ञाहीन दोष का उल्लेख अवश्य हुआ है[५] परन्तु इसका खण्डन भामह के निकट उत्तरवर्ती दण्डी ने इसे कर्कश, अतएव काव्यशास्त्र के अनुपयुक्त कहकर कर दिया।[६] बाद के भी किसी आचार्य ने इसे स्थान नहीं दिया।

काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद के प्रथम वर्ग में परिगणित छ: दोषों[७] में से नेयार्थ को उसी नाम से तथा गूढ़शब्दाभिधान को गूढ़ार्थ नाम से वामन ने पदार्थ दोषों में गृहीत किया परन्तु गूढ़ार्थ के स्वरूप में किञ्चित्

---

१. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।। -वही, १/५५

२. तद्धि रचनागुम्फितमप्युद्वेजयति। -का० सू० वृ०, २/१/६ वृत्ति।

३. ये त्वन्ये शब्दार्थदोषा: सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने लक्ष्यन्ते। -वही। -२/२/२४ वृत्ति।

४. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टञ्च नेष्यते। - का० अ० ४/२

५. ससंशयं न वक्तव्यं प्रतिज्ञारहितं तथा। - वि० ध० पु०, ३/१५/१३

६. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचार: कर्कशप्रायस्तेनालीढ़ेन किं फलम्।। - का० अ० ३/१२७

७. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढ़शब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते।। - का० अ०, १/३७

अन्तर है । वामन के अनुसार अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद गूढ़ार्थ होता है।[१] भामह का गूढ़शब्दाभिधान भरत के गूढ़ार्थ से अभिन्न है। अभिनवगुप्त ने दशरथ के लिए अधिकनवविमान शब्द के प्रयोग का उदाहरण दिया है[२] तथा भामह ने कार्त्तिकेय के लिए 'असितर्त्तितुक्' का ।[३] दोनों ही स्थानों पर गूढ़ पर्याय का प्रयोग है।

क्लिष्ट और अन्यार्थ दोष दोनों ही ग्रन्थों में नाम्ना स्वीकृत होकर भी स्वरूप-विवेचन की दृष्टि से भिन्न हो गये हैं। जहाँ अर्थप्रतीति में व्यवधान उपस्थित हो, वहाँ क्लिष्ट नामक दोष होता है।[४] वामन के अनुसार यह व्यवधान अप्रसिद्धि के कारण होता है[५] परन्तु भामह द्वारा दिये गये अस्पष्ट से उदाहरण में इसका कारण अरूढ़ता नहीं है। वि उपसर्गपूर्वक √हृ हरण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती, इसका अर्थ विहार करना होता है। काव्यालङ्कार का अन्यार्थ नाट्यशास्त्र के भिन्नार्थ के दो रूपों में से एक है-जहाँ किसी कारण से अर्थोपलब्धि नहीं हो पाती।[६] वामन प्रसिद्धि से पतित अर्थ में अन्यार्थ मानते हैं, यथा प्र उपसर्गपूर्वक √स्मृ विस्मरणार्थक प्रसिद्ध है परन्तु कहीं उसका प्रकृष्ट स्मरण के अर्थ में प्रयोग हो जाता है।[७] वामन के इन दोनों दोषों की सीमायें एक-दूसरे का स्पर्श करती हैं। दोनों ही स्थानों पर अप्रसिद्धि के कारण अर्थ में बाधा उपस्थित हो रही है। भामह के विवेचन में इनके सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया था। ये पदार्थ दोष हैं।

जो शब्द लोक में किसी अर्थ का साक्षात् वाचक नहीं होता, उसे

---

१. अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढ़ार्थम्। -का० सू० वृ०, २/१/१३
२. यथा दशरथ इति वक्तव्ये बलात्परिकल्पितेन वस्तुनः पर्यायशब्देनाभिधानम् "अधिकनवविमान इति"। -ना०शा०, अ० भा० सहित, भाग-२
३. असितर्त्तितुगद्रिच्छित् स्वःक्षितां पतिरद्विदृक्। - का० अ०, १/४६
४. -क्लिष्टं व्यवहितं विद्यात्। - वही, १/४६
   -व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्। - का० सू० वृ०, २/१/२०
५. अरूढ़ार्थत्वात्। -वही, २/१/२१
६. अन्यार्थं विगमे। का० अ०, १/४०
७. रूढ़िच्युतमन्यार्थम्। -का० सू० वृ०, २/१/११ सूत्र एवं वृत्ति।

अवाचक कहते हैं।[१] मेघ के लिए 'हिमापहामित्रधर' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार का है। भामह का यह दोष वामन के अप्रयुक्त से पर्याप्त समानता रखता है, जहाँ छल आदि के द्वारा अर्थ की कल्पना की जाती है[२] परन्तु वामन ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया क्योंकि यह दोष साहित्य में कम ही उपलब्ध होता है। वहाँ इसकी गणना वाक्यार्थ दोषों में हुई है।

अयुक्तिमत् दोष का उद्‌घाटन सम्भवतः स्वयं भामह ने ही किया है, जो विषय युक्तियुक्त न हों, यथा मेघ, पवन आदि का दौत्यकर्म[३] परन्तु भामह के समक्ष उन महाकवियों की रचनायें भी उपस्थित थीं जिनकी शक्ति इस प्रकार के दोषों को संवृत कर लेती है और ये भी काव्य के सहज संवेद्य पक्ष बनकर उभरते हैं। इन महाकवियों के प्रयोगों को सुमेधःप्रयोग कहकर प्रशस्त किया गया।[४] इसे अनौचित्य पर आधृत प्रबन्धदोष कह सकते हैं।

द्वितीय वर्ग में भामह ने श्रुतिदुष्ट और अर्थदुष्ट के नाम से जिन दोषों का उल्लेख किया है, वामन ने उनका समाहार 'अश्लील' नाम से किया और पुनः इसके तीन भेद व्रीडादायी, जुगुप्सादायी और अमङ्गलवाचक किये।[५] भामह ने इसके व्रीडादायी रूप के उदाहरण ही दिये थे।[६] पुनरपि यह असभ्यार्थ यदि अप्रसिद्ध, लक्षणाश्रित अथवा लोकसंवीत हो तो वामन के अनुसार इस दोष की कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए।[७] निश्चय ही वामन का विवेचन मौलिक और अधिक तात्त्विक है परन्तु उन्होंने इसका

१. हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्।
साक्षादरूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते।। -का०अ०, १/४१

२. मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम्...........अत्र स्तोकमुदाहरणम्।
-का०सू० वृ० २/२/२१ सूत्र एवं वृत्ति।

३. अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।। का०अ० १/४२

४. यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते।। -वही, १/४४

५. तत्त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात्। -का० सू० वृ० २/१/१९

६. का० अ० १/४८-५१

७. न गुप्तलक्षितसंवृतानि। -का० सू० वृ०, २/१/१५

उल्लेख पदार्थ दोषों में किया है जबकि भामह का श्रुतिदुष्ट पद से सम्बन्धित है।

काव्यालङ्कार के रचयिता के अनुसार कल्पनादुष्ट दोष वहाँ होता है, जहाँ दो शब्दों के मेल से अनिष्टार्थ कल्पित होता है, जैसे शौर्य और आभरण पदों की सन्धि से मैथुन का वाचक अश्लीलार्थ 'याभ' पद कल्पित होता है।[१] वामन ने इसका गणन वाक्य के विसन्धि नामक दोष में किया है जहाँ पदों की सन्धि के अनन्तर असभ्यार्थ की स्मृति का हेतु उपस्थित हो जाये।[२] वहाँ यह विसन्धि नामक दोष का एक भेद है।

श्रुतिविरस पदों में दोष की कल्पना दोनों ही आचार्यों ने समान रूप से की। भामह ने इसे श्रुतिकटु कहा[३], वामन ने कष्ट[४] नाम देकर पददोषों में स्थान दिया।

वामन ने वाक्यदोष के अन्तर्गत जिन तीन दोषों का उल्लेख किया है, वे सभी उनसे पहले विवेचित हो चुके थे। आचार्यों का एक ऐसा वर्ग भी था जो भिन्नवृत्त और यतिभ्रंश को अभिन्न मानता था। इसके प्रवर्त्तक आचार्य भरत थे। उन्होंने इन दोनों दोषों के लिए एक संयुक्त नाम 'विषम' दिया।[५] वामन ने इस वाद का खण्डन किया क्योंकि पृथक् स्वरूप वाली दो वस्तुओं को एक नहीं माना जा सकता।[६] छन्द का अपने लक्षण से च्युत होना भिन्नवृत्त दोष है[७], जबकि यतिभ्रष्ट दोष वहाँ होता है जहाँ लक्षणानुसारी छन्द में कर्णकटु विराम उपस्थित हो जाये।[८] यह प्रायः

---

१. पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्पते।
तदाहुः कल्पनादुष्टं सशौर्याभरणो यथा ।। -वही, १/५२

२. का०सू० वृ० २/२/२८

३. यथाजिह्वददित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः।
न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरे किल।। -का० अ०, १/५३

४. श्रुतिविरसं कष्टम्। -का०सू० वृ० २/१/६

५. वृत्तदोषो भवेद् यत्र विषमं नाम तद्विदुः। -ना० शा०, १६/८९

६. न लक्ष्मणः पृथक्त्वात्। -का०सू० वृ० २/२/६

७. स्वलक्षणच्युतवृत्तं भिन्नवृत्तम्। -वही, २/२/२

८. विरसविरामं यतिभ्रष्टम्। -वही, २/२/३

स्वरसन्धि के बिना क्रियापद तथा नामपद का भेद कर देने पर होता है[1] परन्तु उस परिस्थिति में यह दोष नहीं माना जाता जब यति प्रकृति-प्रत्यययोग अथवा स्वरसन्धि के स्थल पर आपतित हो रही हो।[2] भामह और दण्डी भी इन्हें पृथक् नहीं मानते थे।

विसन्धि का उल्लेख यद्यपि भरत, भामह, दण्डी सभी ने किया परन्तु वामन का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है। विरूप पदसन्धि को विसन्धि नाम देकर उन्होंने विश्लेष, अश्लील और कष्ट रूप में इसका त्रिधा विभाजन किया।[3] अश्लील और क्लिष्ट को वामन पहले भी पदार्थदोष मान चुके थे। इस प्रसङ्ग में वाक्यदोष के रूप में भी उन्हें मान्य किया गया है।

अन्य प्रमुख काव्यदोषों में व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय और अपक्रम दोनों ही ग्रन्थों में नामतः और स्वरूपतः भी अभिन्न हैं। एकार्थ का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है।[4] ये क्रमशः विरुद्ध अर्थ, पुनरुक्त, सन्दिग्ध अर्थ और क्रमरहित निर्देश के नाम हैं। इन सभी का उल्लेख वामन ने वाक्यार्थदोषों के प्रसङ्ग में किया है। एकार्थ को स्वयं भामह ने भी अर्थनिष्ठ कहा है।[5] परन्तु वामन ने यह व्यवस्था भी दी है कि पुनरुक्त द्वितीय पद यदि साभिप्राय प्रयुक्त हो, तो वह दोष नहीं होगा।[6] यथा 'धनुर्ज्याध्वनौ' इस प्रयोग में 'ज्या' पद में ही धनुः अर्थ के अन्तर्हित होने पर भी आरोहण की प्रतीति को अधिक संवेगी बनाने के लिए उसका आदान किया गया है।[7] अस्तु।

भरत का शब्दच्युत, भामह का शब्दहीन और वामन का असाधु

१. तद्धातूनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण। -वही, २/२/४
२. धातुनामभागपदग्रहणात् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यतिभ्रष्टत्वम्।
——— स्वरसन्ध्यकृत् इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोषः। वही, वृत्ति।
३. विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः। पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।
-का०सू० वृ० २/२/७-८
४. एकार्थस्याभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्। ना० शा०, १६/८८
५. यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते। का० अ०, ४/१२
६. न विशेषश्चेत्। का०सू० वृ० २/२/१२
७. धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै। -वही, २/२/१३

पददोष हैं। भामह ने पाणिनि व्याकरण से असम्मत पद में यह दोष माना है।[१] अन्यत्र भी वे पाणिनि में विशेष आदर प्रकट करते हैं[२] जबकि तन्त्रान्तर से साधित पदों के प्रयोग का उन्होंने निषेध किया है।[३]

भामह के देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी 'को वामन ने लोक-विरुद्ध और विद्याविरुद्ध इन दो भागों में बाँटकर प्रस्तुत किया। देश, काल और स्वभावविरोधी दोषों को लोकविरुद्ध तथा कला, चतुर्वर्ग एवं शास्त्रविरोधी दोषों को विद्याविरुद्ध दोषों में समाहित किया गया। इसके अतिरिक्त और कुछ मौलिकता वामन की नहीं है।

भरत और विष्णुधर्मोत्तरकार ने जिसे अभिप्लुतार्थ कहा, भामह ने उसे ही अपार्थ के नाम से निर्दिष्ट किया। यह दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही प्रकरण में परस्पर असम्बद्ध विभिन्न वाक्य उपस्थित हों।[५] दण्डी ने भामह के अनुकरण पर ही इसे अपार्थ नाम दिया। वामन में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

वामन की सूची के ग्राम्य, अनर्थक और अप्रतीत दोषों का उल्लेख यद्यपि भामह ने स्पष्ट रूप से दोषों की किसी भी सूची में नहीं किया परन्तु काव्यालङ्कार में प्रकीर्ण रूप से इन दोषों की ओर सङ्केत अवश्य हुआ है। महाकाव्य के लक्षण[६] तथा वैदर्भी और गौडी रीति के विवेचनप्रसङ्ग[७] में भामह ने ग्राम्य दोष के प्रति सावधान किया है। काव्यालङ्कार के पञ्चम परिच्छेद में बहुपूरण दोष की ओर सङ्केत है,[८] जिसे वामन ने अनर्थक नाम दिया। सूत्रवृत्तिकार के अनुसार अप्रतीत दोष वहाँ होता है जहाँ केवल

---

१. सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्।
तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा।। -का० अ०, ४/२२

२. वही, ६/६२-६३

३. न तन्त्रान्तरसाधितम्.........। -वही ६।२७

४. देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि। -का०सू० वृ० २/२/२३

५. कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि। -वही, २/२/२४

६. समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते। -का० आ०, ४/८

७. अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च.........। -वही, १/१९

८. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। -वही, १/३४

शास्त्रमात्र में प्रयुक्त तथा लोक में अप्रचलित पदों का काव्य में प्रयोग होता है[१], भामह के असुनिर्भेदता दोष की भी यही व्याख्या है। साक्षात् अप्रतीत का उल्लेख भी भामह ने षष्ठ परिच्छेद में किया है- धातुओं की अनेकार्थकता के कारण अन्यथा अर्थ रखने वाले तथा अप्रतीत प्रयोग न किये जायें।[२] सम्भवतः वामन के अप्रतीत का उद्गम यही रहा हो। निश्चय ही इन दोषों का विवेचन करते हुए वामन को भामह के ग्रन्थ से प्रेरणा मिली होगी। वामन के अनुसार ये सभी पददोष हैं।

इनके अतिरिक्त भी काव्यालङ्कार में अपुष्टार्थता[३], आकुलता,[४] अहृद्यता,[५] विरुद्धपद,[६] अस्वर्थ,[७] व्यायतता,[८] आदि प्रकीर्ण दोषों को ढूँढ़ा जा सकता है। यद्यपि ग्रन्थ में इन्हें अपेक्षित गौरव देकर वर्णित नहीं किया गया तथापि ये आचार्य की समर्थ और सूक्ष्म सन्दर्शिका के परिचायक हैं। क्रमबद्धता के अभाव में भी इनका विवेचन उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों के लिए उपजीव्य बना।

वामन की सूची में उन दोषों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जिनका उल्लेख उन्होंने गुणविवेचन के सन्दर्भ में गुणविपर्यय के रूप में किया है। इसकी प्रेरणा इन्हें संभवतः दण्डी से मिली हो। शुद्ध प्रसाद गुण भी, यदि वह ओजोमिश्रित न हो तो वामन के अनुसार दोष ही है।[९] सौकुमार्य गुण का लक्षण अजरठत्व है[१०], स्पष्टत. यह जरठत्वरूप दोष का विपर्यय है। उज्ज्वलता का विपर्यय वामन के अनुसार पुराणच्छाया है।[११]

१. शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम्। -का० सू०वृ०, २/१/८
२. नाप्रतीतान्यथार्थत्वं धात्वनेकार्थतावशात्। -का० अ०, ६/२६
३. वही, १/३४
४. वही
५. वही, ५/६२
६. वही, ५/६७
७. वही
८. वही।
९. शैथिल्यं प्रसादः। गुणःसम्प्लवात्। न शुद्धः। -का०सू० वृ० ३/१/६-८
१०. अजरठत्वं सौकुमार्यम्। -वही, ३/१/२२
११. औज्ज्वल्यं कान्तिः। यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।
-वही, ३/१/२५ सूत्र एवं वृत्ति।

ग्राम्य दोष के अभाव में उन्होंने उदारता नामक गुण की स्थिति भी मानी है।[1] समता नामक अर्थगुण विषमता का अभाव है।[2] कुछ गुणों के उदाहरण में उनके अभावरूप अथवा विपर्ययरूप दोषों का भी उल्लेख है। मसृणत्व श्लेष गुण है, अमसृणत्व को उन्होंने उदाहरण में स्पष्ट किया है।[3] पृथक्पदत्व माधुर्य है, जिसका विपर्यय लम्बे समस्त पद हैं।[4]

समाहार रूप में कह सकते हैं कि वामन के समय तक दोषनिरूपण पर्याप्त विकासोन्मुख था। इस क्षेत्र में अनेक नवीन कल्पनायें की जा रहीं थीं। परम्परागत दश के वर्ग में विभाजन अब सम्भव नहीं रहा था। वामन ने शब्द और अर्थ का भेद करके इस संख्या को बीस किया। इससे एक ओर तो कुछ दोष एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करने लगे दूसरी ओर अनेक मुख्य दोष छूट भी गये जो इस वर्गविभाजन में स्थान नहीं पा सके। उनका विवेचन अन्यत्र प्रकीर्ण रूप में किया गया, वे भी निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण थे। वामन ने गुणों के प्रकरण में उनके विपर्ययरूप जिन दोषों का उल्लेख किया, कामधेनु टीकाकार ने उन्हें ही वस्तुतः सूक्ष्म दोष कहा था।[5] उपमादोषों का विवेचन उपमा अलङ्कार के प्रसङ्ग में किया जाता था।

भामह ने मेधावी (मेधाविरुद्र) के अनुसार सात उपमादोषों का उल्लेख किया है।[6] वामन ने इन्हीं का छह में समाहार कर दिया। विपर्यय का उल्लेख काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में नहीं है। उपमान की न्यूनता (जिसे उन्होंने हीनता कहा है) और अधिकता में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। वामन का एक विशिष्ट योगदान यह भी है कि उन्होंने इस न्यूनता

---

१. अग्राम्यत्वमुदारता। -वही, ३/२/१३

२. अवैषम्यं समता। -वही, ३/२/१५

३. वही, ३/१/११ सूत्र एवं वृत्ति।

४. वही, ३/१/२१ सूत्र एवं वृत्ति।

५. सूक्ष्माः काव्यसौन्दर्याक्षेपानतिक्षमाः। ओजोविपर्ययात्मा दोष इत्यारभ्य तदुदाहरण प्रत्युदाहरणाभ्यां वक्ष्यन्ते। ते गुणविवेचने यथायथमवबोध्याः।
-का०सू० वृ० २/२/२४ कामधेनु।

६. हीनतासम्भवोलिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च।। -का० अ०, २/३९

और अधिकता के जाति, प्रमाण और धर्म रूप आधारों की सङ्कल्पना की।[१] असदृश नाम्क दोष में उपमेय और उपमान का कोई भी धर्म सामान्य नहीं होता[२] जबकि असम्भव में उपमान के असम्भावित पक्ष की कल्पना होती है।[३] उपमेयोपमान का लिङ्ग एवं वचन भिन्न[४] होने पर लिङ्गभेद और वचनभेद दोष होता है। दण्डी के अनुसार उपमान की अधिकता और न्यूनता तथा लिङ्ग और वचन-भेद सामान्यत: सहृदय में उद्वेग उत्पन्न नहीं करते, अत: ये अनित्य दोष हैं।[५] वामन पुल्लिंग और नपुंसक की भिन्नता को दोष नहीं मानते।[६] लौकिकी, समासाभिहिता और उपमाप्रपञ्च में भी यह सह्य है।[७]

इस प्रकरण में भामह का कुछ भी नया नहीं है। इसके सभी लक्षण और सम्भवत: उदाहरण भी मेधावी से ही लिये गये हैं, यह उन्होंने स्वयं भी माना है।[८] हाँ, असम्भव दोष को उन्होंने पूरे मन से स्वीकार नहीं किया।[९] नमिसाधु ने भी उपमादोषों का उल्लेख मेधावी के प्रामाण्य पर किया है तथा उसके पाँच लक्षण व उदाहरण भामह से अभिन्न हैं। वामन भी यद्यपि उनके ऋणी हैं तथापि विश्लेषण और विभाजन की दृष्टि से उनका कुछ योगदान अवश्य है। अस्तु।

काव्यसौन्दर्य की धारणायें जब तक वस्तुगत थीं, दोषों को भी तब तक शब्दार्थ से ही सम्बद्ध किया जाता था। ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना

---

१. जतिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्। -का०सू० वृ० ४/२/९
२. अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम्। -वही, ४/२/१६
३. अनुपपत्तिरसम्भव:। -का०सू० वृ० ४/२/२०
४. वही, ४/२/१२-१५
५. न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।। -का० अ० २/५१
६. इष्ट: पुन्नपुसंकयो: प्रायेण। -का०सू० वृ० ४/२/१३
७. लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे च। -वही, ४/२/१४
८. त एत उपमादोषा: सप्त मेधाविनोदिता:।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्।। -का० अ० २/४
९. वही २/४८-५०

के साथ ही काव्य का आत्मगत स्वरूप स्पष्ट होने लगा। आनन्दवर्धन से भी पहले रुद्रट के समय से ही रसदोषों की कल्पना ने जन्म लिया। हृदयोद्वेजकता का स्थान अब रसापकर्षकता ने ले लिया। इसके साथ ही दोषों की संख्या में वृद्धि हुई। संख्यावृद्धि की इस प्रवृत्ति के बीज भामह से पूर्व ही देखे जा सकते हैं। रसध्वनिकाल में दोषों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ, उनकी संख्या में वृद्धि हुई, उनके वर्गीकरण के आधार विकसित हुए परन्तु पूर्वाचार्यों की उपजीव्यता पुनरपि निःसन्दिग्ध रही। वामन ने वर्गीकरण का जो आधार प्रस्तुत किया था, उसका प्रभाव मम्मट पर भी पड़ा।

❑❑❑

पञ्चम विमर्श

रीति और गुण

रीतिविवेचन–

भरत के नाट्यशास्त्र में जिस तत्त्व की ओर 'प्रवृत्ति' पद से सङ्केत किया गया था, वह अपने व्यापक परिवेश में देश, आचार आदि की समस्त मान्यताओं को समेटे हुए था,[१] भामह से बहुत पहले ही उसकी परिधि भाषाप्रयोग की सामान्य विशेषताओं तक सीमित रह गयी थी। अत: कविस्वभावभेद के कारण भाषिक अभिव्यक्ति के विविध रूपों की सम्भावना बढ़ गयी। निश्चय ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विकसित हुई STYLE IS THE MAN की धारणा की पीठिका यह वैयक्तिक चिन्तन ही है जो काव्यप्रक्रिया का विश्लेषण कवि के स्थितिकोण के आधार पर करती है। दण्डी ने इस आनन्त्य की ओर सङ्केत भी किया था परन्तु स्थूल रूप से दो भेदों की कल्पना कर ली गयी[२] तथा विदर्भ और गौड देशों में अधिक प्रयोग को देखते हुए इन्हें क्रमश: वैदर्भ और गौड काव्य की संज्ञा प्राप्त हुई।

यह व्यक्तिस्वभाव को प्रादेशिक सीमाओं के निकष पर नापने का प्रयास है जो अतात्त्विक होकर भी आश्चर्यजनक नहीं है। उधर प्लेटो और इधर कुन्तक ने कविगत विशेषताओं को महत्त्व दिया परन्तु इन्हें स्थान-सीमाओं से परिच्छिन्न मानने वाले विचारक भी समानान्तर रहे हैं। सिसरो की ऐटिक और एशियाटिक तथा दण्डी की वैदर्भी और गौडी में आश्चर्यजनक साम्य है। आगे चलकर वामन ने इनमें पाञ्चाली नामक एक अन्य प्रभेद

---

१. प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते–पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्त्तां ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। ना०शा०, १४/३६ के अनन्तर

२. इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता:।। का० आ०, १/१०१

को भी जोड़ दिया[१] जो भोजराज में ६ तक पहुँचकर[२] भी विश्वनाथ तक आते-आते चार तक सीमित रह गये।[३] हर युग में वैदर्भ काव्य की स्तुति भी होती रही। दण्डी[४] और वामन[५] ने समस्त दश काव्यगुणों को इसके साथ जोड़ दिया।

प्रादेशिक आधार पर यह विभाजन न केवल भारतीय बल्कि पाश्चात्य परम्परा में भी किया अवश्य गया और अन्ततः वह स्वीकृत भी हुआ परन्तु प्रबुद्ध आचार्यों के एक वर्ग की ओर से इसका विरोध निरन्तर किया जाता रहा। वैदर्भ और गौड मार्ग का यह भेद तो अनावश्यक है ही, इनमें से किसी एक भेद को श्रेष्ठ और दूसरे को मध्यम मानना भामह के अनुसार और भी गतानुगतिकता है।[६] अलङ्कृति, अग्राम्यत्व, अर्थवत्त्व, लोकसम्मति और अनाकुलता काव्य-सामान्य के गुण हैं, इनसे युक्त होने पर गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ बन जाता है, अन्यथा वैदर्भ भी निकृष्ट है।[७] बाणभट्ट ने इन सामान्य गुणों में नवीन अर्थ, अग्राम्यता, अक्लिष्ट श्लेष, रसस्फुटता और उदार शब्दों के चयन को दुर्लभ माना था।[८] गुण समान रूप से दोनों ही काव्यों को चारुता प्रदान करते हैं। अतः किसी एक शैली को ही काव्य का आदर्श नहीं माना जा सकता । भामह की इस स्थापना के विरुद्ध दण्डी ने समस्त गुणों का सम्बन्ध वैदर्भ मार्ग के साथ जोड़ा।

---

१. सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति। का०सू० वृ० १/२/२९

२. वैदर्भी साऽथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढ़ा रीतिर्निगद्यते।। स० क०, २/५१

३. वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा। सा० द०, ९/२

४. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। का० आ०, १/४२

५. समग्रगुणा वैदर्भी । का०सू० वृ० १/२/११

६. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्।। का० अ०, १/३२

७. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। वही, १/३५

८. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। - ह० च०, १/८

रीति के साथ काव्यगुणों का नियत सम्बन्ध वामन ने माना है। सौन्दर्य उनके अनुसार काव्य का सर्वस्व है और वह शब्दार्थनिष्ठ गुणात्मा रीति से निष्पन्न होता है[१] परन्तु दण्डी जहाँ समस्त दश गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण तथा गौड मार्ग को उसके विपर्यय से युक्त मानते हैं, वामन ने भी वैदर्भी रीति में समस्त काव्यगुणों की स्थिति मानी है, जबकि गौडी और पाञ्चाली में क्रमशः ओज और कान्ति[२] तथा माधुर्य और सौकुमार्य[३] गुण रहते हैं। अर्थात् गौडी और पाञ्चाली का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। गौडी में ओज और कान्ति गुण अवश्य होते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य गुण भी हो सकते हैं परन्तु माधुर्य और सौकुमार्य नहीं। इसकी ठीक विलोम स्थिति पाञ्चाली के सम्बन्ध में है। वैदर्भी के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं। जितने अधिक गुण होंगे, सौन्दर्यनिष्पत्ति उतनी ही अधिक संवेगी होगी।

स्पष्टतः ही वामन का झुकाव वैदर्भी रीति की ओर अधिक है क्योंकि पाञ्चाल और गौड मार्ग इसकी तुलना में आंशिक गुणों से युक्त हैं। इसका विशद विवेचन भी उन्होंने विस्तार और पूर्ण मनोयोग के साथ किया है। यह एक विलक्षण प्रकार का पदविन्यास है जिसमें कथ्य के अभाव में भी कुछ अपूर्व आनन्दात्मक अनुभूति होती है, जैसे हृदय में अमृतवर्षा सी हो रही हो।[४] यह समग्रगुणगुम्फिता वैदर्भी का ही चमत्कार है, राजशेखर के वचनविन्यासक्रम की महत्ता और भामह द्वारा उद्धृत सौशब्द्यधारणा का चरम सौन्दर्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसके आश्रय से अर्थसम्पत्ति तो क्या, अर्थ का लेश भी आस्वादनीय बन जाता है। समासयुक्त पदों के सद्भाव और अभाव के आधार पर यह शुद्ध और मिश्र (?) दो प्रकार की होती है।[५]

---

१. का०सू० वृ० १/१/१ एवं १/२/६-८
२. ओजःकान्तिमती गौडीया। -वही, १/२/१२
३. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। - वही, १/२/१३
४. किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा।। - का०सू० वृ० १/२/११
५. सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी-वही, १/२/१९

इस रीति में विवेचित होकर सामान्य अर्थ भी आस्वाद्य बन जाता है और सत्य तो यह है कि इसके प्रभाव से उस अर्थसम्पत्ति को भी उपचार से वैदर्भी ही कह देते हैं।[१]

रीति काव्य का कला पक्ष है, भावों का वाहक । रुक्ष भाव भी कलामयी अभिव्यक्ति में अवतरित होकर सहृदयसंवेद्य हो जाते हैं। आधुनिक समालोचना की शब्दावली में इसे फार्मवाद कहा जा सकता है जो शब्द और उनके सुन्दर विन्यास में ही काव्य का सर्वस्व मानता है। वाल्टर पैटर ने इसी सरणि में विचार करते हुए वस्तु और रूप के पूर्ण एकत्व को काव्य का आदर्श कहा।[२] रैने वैलेन ने भी अभिव्यक्तिशैली को काव्य का स्वरूप कहा था[३] परन्तु वामन की रीति केवल अभिव्यक्तिप्रकार से ऊपर उठकर भावसम्पदा को भी अपने में समाहित किए हुए है। रसप्रक्रिया और काव्यार्थबोध भी इसकी परिधि से बाहर नहीं हैं।

भरत से लेकर भामह के समय तक काव्य को ही वैदर्भ और गौड काव्य कहा जाता था। दण्डी तक आते-आते इसे मार्ग-संज्ञा मिल गयी। भरत ने जिन दश तत्त्वों को काव्य के गुण कहा था, दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा। अनन्तर कुन्तक ने भी इसे यही नाम दिया। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति शब्द का प्रयोग किया, इसका लक्षण किया तथा इसे काव्य का सर्वस्व माना क्योंकि इसका साक्षात् सम्बन्ध गुणों से है और गुण नित्य रूप से काव्य-शोभा के जनक हैं। भामह गुण और रीति में कोई नियत सम्बन्ध स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि गुण का सम्बन्ध काव्यसामान्य से है और वे जब काव्य के इस विभाजन को ही अर्थहीन मानते हैं तो इस भेदविभाग के आधार खोजने का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

१. सापि वैदर्भी तात्स्थ्यात्। -वही, १/२/२२

२. There are no beautiful thoughts without beautiful form, and Conversely, ...just so, it's impossible to detatch the form from the Idea; for the Idea exists by virtue of the form. का० स०, पृ० १६८ पर उद्धृत।

३. The object of literture is delight, it's soul is imagination, it's body is style.--Renne Vellen, A History of Modern Criticism, p. 410

वामन के गुण शब्दार्थनिष्ठ हैं, उनसे विशिष्ट पदरचना रीति। आनन्दवर्धन ने इसे सङ्घटना कहा है तथा वे इसे समास पर आधारित मानते हुए भी गुणाश्रयी स्वीकार करते हैं[१] और ध्वनि सम्प्रदाय में क्योंकि गुणों का सम्बन्ध रस से है, अतः परम्परासम्बन्ध से यह वहाँ भी रसाभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। वामन इस पदरचना को ही इस दृष्टि से काव्य का सर्वस्व मानते हैं कि यह गुणवत्त्व के कारण सौन्दर्य का साक्षात् उपादान है। ध्वनि सम्प्रदाय में सङ्घटना पदनिष्ठ होकर भी गुणाश्रयी है, एवञ्च रस की उपकर्त्री।

सर्वप्रथम रुद्रट ने रीति को समासाश्रयी माना था[२] तदनन्तर आनन्दवर्धन, राजशेखर, और अग्निपुराणकार ने भी यही माना। भोज ने तो समास और गुण दोनों को ही रीति का मूल मान लिया।[३] विश्वनाथ ने इन सब मतों का समाहार किया।[४] कुछ भी हो, वामन की स्थापनाओं का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर अवश्य रहा। प्रादेशिक आधार पर नामकरण के सम्बन्ध में भी वामन ने जो स्पष्टीकरण दिया था कि विदर्भ आदि देशों में तत्तद् रीति के अधिक प्रचलन के आधार पर तत्तत् नामकरण किया गया[५], भी ग्राह्य हुआ और इसी अनुरोध पर बाद में इनका संज्ञाकरण भी किया गया। उनसे पूर्व प्रसिद्ध गद्यलेखक बाणभट्ट देश-विशेष के काव्य से सम्बन्धित सामान्य विशषताओं की ओर सङ्केत कर चुके थे।[६] भामह का विवेचन तात्त्विक होकर भी ग्राह्य नहीं हो सका।

---

१. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता।।
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा । रसान्०..............।।
-ध्व० आ०, ३/५-६

२. नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन। -का० अ० (रू०), २/३

३. स० क०, २/२९-३३

४. सा० द०, ९/२-३

५. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्सामाख्या। -का०सू० वृ० १/२/१०

६. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः।। ह०च०, १/७

गुणनिरूपण –

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में गुण एक प्रमुख तत्त्व के रूप में मान्य रहे हैं। दाक्षिणात्य आचार्य वामन ने यदि रीति को काव्य की आत्मा माना तो उनकी पदरचना गुणों से युक्त होकर ही अपने वैशिष्ट्य को प्राप्त हुई।[1] दूसरी ओर औदीच्य आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार गुण अङ्गीरूप रस के नित्य धर्म हैं[2] परन्तु काव्यशास्त्रीय परम्परा के दोनों ही प्रस्थानों में निर्विवाद रूप से स्वीकृत होकर भी उनके स्वरूप और स्थिति के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है।

आद्य आचार्य भरत के अनुसार दोष काव्यशोभा के विघातक हैं और गुण उन के विपर्यस्त[3], अर्थात् काव्य शोभा के आधायक। रसानुकूल प्रयोग के द्वारा भाषा और शैली की समृद्धि ही गुणों का कार्य है और यही इनकी उपयोगिता । अर्थात् गुणों की स्थिति को ये शब्दार्थाश्रित ही मानते हैं, यद्यपि इनका प्रयोग रससापेक्ष होता है।[4]

अलङ्कारों के साथ गुणों की विभेदक रेखा भामह और दण्डी के समय तक भी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पायी थी। हाँ, दण्डी और उद्भट के मध्य आचार्यों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो काव्य में गुण और अलङ्कार का भेद क्रमशः इनकी समवाय तथा संयोग स्थिति के आधार पर किया करता था[5] और यह वाद उस समय बहुत प्रसिद्ध हो चला था। उद्भट ने इसका विरोध किया। भामह ने प्रकीर्ण रूप से अलङ्कृति अग्राम्यता, अर्थवत्त्व, न्याय्यत्त्व, अनाकुलत्व आदि गुणों का उल्लेख

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः।
विशेषो गुणात्मा। –का०सू० वृ०, १/२/२९

२. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। –ध्व०आ०, २/२९

३. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।। –ना० शा०, १७/९५

४. प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्। –वही, १७/१०८

५. एवं च समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय, इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः।
–का०प्र०, अष्टम उल्लास में उद्धृत।

किया है[१] परन्तु ये काव्य के नहीं सत्काव्य के गुण हैं। दूसरे शब्दों में ये काव्यशोभा के कर्त्ता नहीं, उसके उत्कर्षक हैं, अलङ्कारों की ही तरह। यहाँ तक कि अलङ्कारों का सुष्ठु प्रयोग भी उनके यहाँ एक गुण ही है। द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में अलङ्कारों से पूर्व केवल तीन कारिकाओं में प्रसाद, माधुर्य और ओज का विवेचन[२] संक्षिप्त पर सारगर्भित है, परन्तु यहाँ भी उनके लिए गुण शब्द का प्रयोग भामह ने नहीं किया। सत्य तो यह है कि अलङ्कारों के प्रसङ्ग में वर्णित भाविक को प्रबन्धविषयक गुण[३] मानने वाला आचार्य सम्भवतः गुणालङ्कार में भेद ही न कर पाया हो। उद्भट ने भी गुण और अलङ्कारों में एकता की बात कही थी। इनका भेद गड्डलिकाप्रवाह की तरह है।[४] काव्यादर्श के गुण भी विशिष्ट काव्यमार्ग के विशिष्ट अलङ्कार ही हैं।[५]

वामन उपलब्ध काव्यशास्त्र परम्परा में प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने गुण और अलङ्कारों में भेदवाद को स्थापित किया। गुण उनके अनुसार काव्यशोभा के स्वरूपाधायक, अतएव आभ्यन्तर और नित्य हैं। अलङ्कार उसके उत्कर्षक[६], अतएव बाह्य एवं अनित्य। काव्यशोभाकर्तृत्व की बात जब गुणों के विषय में कही जाती है तो गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ के साथ जुड़ जाता है परन्तु अन्यत्र गुणों को रीतिनिष्ठ भी कहा गया है। रीति काव्य का सर्वस्व है और

---

१. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। -का० अ०, १/३५

२. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालकाः।।
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।। -का० अ०, २/१-३

३. भाविकत्वं च निजगुः प्रबन्धविषयं गुणम्। - वही, ३/५३

४. ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिका-प्रवाहेणैवैषां स्थितिरिति। का० प्र०, अष्टम उल्लास में उद्धृत।

५. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत्प्रदर्श्यते।। -का० अ०, २/३

६. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। का०सू०वृ०, ३/१/१-२

उसमें वैशिष्ट्य गुणों के द्वारा ही आविर्भूत होता है।[1] अतः रीति धर्मी और गुण उसके धर्म हुए। कामधेनु टीकाकार ने शब्दार्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध उपचार से माना है।[2] वामन के इस विवेचन में भी मौलिकता है। इनसे पहले इन दोनों का विभाग क्रमशः इनकी समवाय और संयोग स्थिति के आधार पर ही किया जाता था। दण्डी ने भरत के ही दश गुणों को वैदर्भ और गौड मार्ग के व्यवच्छेक धर्म के रूप में स्वीकार किया था[3] वामन ने दण्डी की इस मान्यता का भी परिष्कार किया। उन्होंने रीतियों का भेदविभाग विधेयात्मक गुणों के ही ग्रहण-त्याग के आधार पर स्वीकार किया। ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा वामन की इस स्थापना का पर्याप्त विरोध हुआ। यहाँ गुण और अलङ्कार दोनों को ही काव्य का उत्कर्षाधायक माना गया। गुण अब रस के धर्म थे[4], अलङ्कार शब्दार्थ के।[5] आनन्दवर्धन का यह मत बाद में मम्मट, विश्वनाथ, विश्वनाथदेव आदि ने भी स्वीकार किया।

लोचनकार के अनुसार 'मधुरा वर्णाः' इत्यादि प्रयोगों में वर्णों में माधुर्य इत्यादि का आरोप भ्रान्तिजन्य है।[6] दर्पणकार ने रसधर्मी गुणों के शब्द में आरोप को उपचरित माना है। आचार्य विश्वनाथदेव ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्वसम्बन्ध से गुणों की शब्दार्थ में स्थिति मानी गयी है[7] परन्तु उनका यह तर्क समीचीन प्रतीत

---

१. विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। -वही, १/२/७-८

२. गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचाराच्छब्दधर्मा इत्युक्तम्। वही, ३/१/१ पर का० धे०।

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। - का० आ०, १/४२

४. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। का० प्र०, ८/१

५. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपर्कुवन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।। -सा०द०, १०/१

६. वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुरादिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयो-रुपचरितम्।

७. लाघवेन रससमवेतत्वस्यैवाङ्गीकारात्। सा०सु० सि०, ६/१३५ वृत्ति।

नहीं होता। शब्दार्थ रस के अभिव्यञ्जक हैं। यदि गुणों की स्थिति रस में स्वीकार की जाये तो परम्परा से शब्दार्थ गुणों के भी व्यञ्जक होंगे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि रस की स्थिति आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार सहृदय के हृदय में है। काव्य तो सहृदय को रस तक पहुँचाने का माध्यम मात्र है। ऐसी स्थिति में गुणों को काव्य का, अथ च शब्दार्थ का धर्म मानना ही अधिक समीचीन है। भोज ने शृङ्गारप्रकाश में रस को काव्यज्ञधर्म ही स्वीकार किया है।[१] नव्यमत भी वेदान्त की निर्गुण आत्मा के समान[२] आत्मस्थानीय रस में गुणों की स्थिति को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। यद्यपि यह भी सत्य है कि आत्मा जब तक शरीर में रहता है तब तक शरीर के धर्मों का उसमें आरोप होता ही है परन्तु यह आरोप औपचारिक है, वास्तव नहीं। अस्तु।

भामह और वामन दोनों ही आचार्य गुण और अलङ्कार को शब्दार्थनिष्ठ मानते हैं परन्तु वामन के अनुसार काव्य में स्थिति के आधार पर गुण उनसे भिन्न हैं। अलङ्कारों के विना काव्यत्व की सम्भावना नष्ट नहीं होती, बल्कि सच तो ये है कि अलङ्कारों का अतिशय कहीं-कहीं काव्यशोभा को अतिक्रान्त ही कर देता है। इसके विपरीत गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं जबकि भामह के अनुसार गुण काव्य के स्वरूप का आधान नहीं कर सकते। ये अलङ्कारों के ही समान काव्य के उत्कर्षक हेतु विशिष्ट अलङ्कार ही हैं। ध्वनि प्रस्थान में भी दोनों को काव्य का उत्कर्षक ही माना गया यद्यपि इनकी स्थिति में अब पर्याप्त अन्तर आ गया था। पुनरपि वामन की मौलिक स्थापनायें सदा पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत की जाती रहीं। वामन के द्वारा विवेचित १०-१० शब्द और अर्थगुण संक्षेप में इस प्रकार हैं-

ओज-

भरत के अनुसार पदों की समस्त, विचित्र, सानुराग और उदार योजना ओज है।[३] दण्डी भी समासभूयस्त्व में ही ओज का लक्षण मानते

१. रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः। ते च शरीरिणां चैतन्यवतां, न काव्यस्य। तस्य शब्दार्थरूपतया अचेतनत्वेन। शृं०प्र०, पृ० ४३३

२. किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। -र०ग०

३. समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।। -ना० शा०, १७/१०३

हैं, परन्तु उनके अनुसार दाक्षिणात्य कवि इसका प्रयोग गद्य में ही अधिक करते हैं।[१] वामन ने भरत की सब विशेषताओं का समाहार गाढ़बन्धत्व में ही कर लिया।[२] ओज गुण में ग्रथित पद रसायन के समान शक्तिदायक होते हैं।[३] अर्थ के स्तर पर यह गुण आर्थिक प्रौढ़ता में पर्यवसित होता हैं।[४] प्रौढ़ता की परिभाषा में स्वयं वामन ने पदार्थबोध के लिए सुघटित वाक्यरचना, वाक्यार्थ के बोधन के लिए पदार्थ की शक्ति, व्यस्तत्व, समस्तत्व तथा साभिप्रायत्व इन पाँच विशेषताओं का सद्भाव इष्ट माना है।[५] इस प्रकार जहाँ पदविन्यास प्रगाढ़ हो और अर्थ-योजना प्रौढ़, वहाँ वामन का शब्द और अर्थनिष्ठ ओज गुण होता है।

रसध्वनि प्रस्थान में वामन के समस्त गुणों को केवल तीन माधुर्य, ओज और प्रसाद में अन्तर्भूत किया गया। उन्होंने ये तीनों नाम सम्भवतः भामह के अनुकरण पर चुने परन्तु भामह स्वयं ओज गुण का स्वरूप लम्बे समास मात्र में ही अवसित मानते हैं।[६] ध्वनिवादियों ने हृदय की दीप्ति रूप चित्तवृत्ति के विस्तार के हेतुरूप में इसकी स्थिति मानी।[७] मम्मट के अनुसार वामन के ओज, श्लेष, उदारता और प्रसाद नामक शब्दगुण दीप्तिभाव के उद्दीपक हैं।

प्रसाद–

भरत के अनुसार जहाँ अर्थबोध इतना सुकर हो कि विना व्याख्या के ही उसकी प्रतीति हो जाये, वह प्रसाद है।[८] दण्डी ने प्रकारान्तर से इसे ही

---

१. ओजः समासभूयस्त्वम्, एतद्गद्यस्य जीवितम्। -का० आ०, १/८०

२. गाढ़बन्धत्वमोजः। - का०सू०वृ०, ३/१/५

३. अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम्। -वही, ३/१/२५

४. अर्थस्य प्रौढ़िरोजः। -वही, ३/२/२

५. पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च।। -वही, वृत्ति

६. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालकाः।। का० अ०, २/२

७. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः। का० प्र० उल्लास, ४

८. अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते।। -ना०शा०, १७/९९

रूढ़ अर्थ में शब्द का प्रयोग कहा था।[१] वामन इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने प्रसाद को ओज के विपरीत परन्तु उसके धर्म से किञ्चित् समन्वित माना। प्रसाद पदबन्ध की शिथिलता का नाम है[२] परन्तु ओज के साथ सम्प्लव होने के कारण यह दोष नहीं कहा जा सकता।[३] करुणादि में जिस प्रकार सुख और दुःखरूप विरोधी गुणों का समन्वय होता है उसी प्रकार यहाँ भी शैथिल्य और गाढ़ता का सामञ्जस्य हो सकता है।[४] वामन की इस स्थापना का उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा विरोध भी हुआ है। विशेष रूप से हेमचन्द्र ने इसे अमान्य घोषित किया।[५]

अर्थगत प्रसाद में आर्थिक विमलता की धारणा समाहित है।[६] अनुपयोगी और अवाञ्छित पदों का प्रयोग इसमें परिहार्य है। स्पष्टता के कारण ही भामह के अनुसार इसका अर्थ अल्पज्ञ स्त्री और बच्चों तक को भी प्रतीत हो जाता है।[७] इसमें समास भी कम होते हैं।[८] विश्वनाथ के अनुसार समस्त रसों और रचनाओं में निहित यह गुण शुष्केन्धन को अग्नि के समान शीघ्र ही चित्त को व्याप्त कर लेता है।[९] यह हृदय की विस्तारात्मक वृत्ति को प्रकट करता है।

श्लेष –

अनेक पद जहाँ एक के समान आभासित हों, वह श्लेष है। इसे ही मसृणत्व भी कहते हैं।[१०] इस एकवत्प्रतीति में उनका समस्त होना

१. प्रसादवत्प्रसिद्धार्थम्। –का० आ०, १/४५
२. शैथिल्यं प्रसादः। –का० सू० वृ०, ३/१/६
३. गुणः सम्प्लवात्। –वही, ३/१/७
४. करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः।। वही, ३/१/९ वृत्ति।
५. का०अनु०, पृ० २३४
६. अर्थवैमल्यं प्रसादः। का० सू० वृ०, ३/२/३
७. आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्। –का० अ०, २/३
८. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।। वही, २/१
९. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं, शुष्केन्धनमिवानलः।
सः प्रसादः समस्तेषु, रसेषु रचनासु च।। सा०द० ८/८
१०. मसृणत्वं श्लेषः। मसृणत्वं नाम यस्मिन् सन्ति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते। का० सू० वृ०, ३/१/११ एवं वृत्ति।

आवश्यक नहीं। इस प्रसङ्ग में उदाहृत "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" यह कालिदास का पद्य प्रायः व्यस्त ही है। दण्डी अशिथिल रचना में श्लेष मानते हैं।[१] वामन की शब्दावली में अशैथिल्य गाढ़बन्धत्व ही है, जो ओज का स्वरूपाधायक है परन्तु दण्डी इसके लिए संयुक्ताक्षरों ओर महाप्राण वर्णों का योग आवश्यक मानते हैं।[२]

अर्थश्लेष को वामन ने घटना कहा है जो क्रम (वस्तुविन्यास का क्रम), कौटिल्य (घटनाओं का चमत्कार), अनुल्बणत्व (प्रशस्त वर्णन) और उपपत्ति (युक्तिविन्यास) के योग से निष्पन्न होती है।[३] कामधेनु टीकाकार ने इन चारों विशेषताओं का एकत्र निवेश आवश्यक माना है।[४] अभिनवगुप्त ने भरत के श्लेष की व्याख्या भी वामन के ही आलोक में की। विषय के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने उदाहरण भी वही दिया, जो वामन के अर्थश्लेष का है।[५]

समता –

समता का स्वरूप वामन ने रीति अथवा शैली की एकरूपता में माना है।[६] जिस रीति में काव्य प्रारम्भ हो, उसी में उसका अन्तपर्यन्त निर्वाह समता गुण है। एक श्लोक से लेकर प्रबन्धकाव्य तक इसका विषय बन सकता है।[७] इसकी दुर्बन्धता और दुर्विभावता का उल्लेख स्वयं वामन ने किया था।[८] उनका यह लक्षण दण्डी से स्पष्टतः प्रभावित है। वे मृदु, स्फुट और मध्यम बन्धों की अविषमता में समता गुण मानते है।[९]

---

१. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्। -का० आ०, १/४३

२. वही।

३. घटना श्लेषः।
क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना। का० सू० वृ०,, ३/२/४ एवं वृत्ति।

४. नेत्रनिमीलनादीनां यः क्रमः परिपाटी कौटिल्यञ्च तयोरनुल्बणत्वेनोपपत्त्या युक्ततया पृच्छाक्षेपरूपतया बाधाभावस्वभावतया च योजनं घटना विवक्षिता। -वही, का० धे०

५. ना०शा०, (अ० भा० सहित), भाग २, पृ० २४३

६. मार्गाभेदः समता। -का० सू० वृ०, ३/१/१२

७. ....श्लोके प्रबन्धे चेति.........। वही, वृत्ति।

८. दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः। वही, ३/१/२५ वृत्ति।

९. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः।। - का० आ०, १/४७

भरतसम्मत गुण और अलङ्कारों का अन्योन्यभूषणभाव[१] अब मान्य नहीं रहा था।

अर्थक्रम का भङ्ग न होना अर्थसमता गुण है।[२] कहीं-कहीं यह क्रम भङ्ग भी हो जाता है[३] परन्तु वह अवास्तविक नहीं लगता। जहाँ समता गुण हो वहाँ अर्थबोध सुगम होना चाहिए।[४] यह गुण वस्तुतः श्लेष की घटनाक्रम सीमा का अतिक्रमण (स्पर्श) करने लगता है। हेमचन्द्र ने इसे क्रमभङ्ग दोष का अभावरूप माना है।[५] मम्मट के अनुसार तो यह एकरसता के कारण विरस भाव उत्पन्न करता हुआ दोष ही बन जाता है[६] परन्तु मम्मट की यह समीक्षा अतिवाद ही है। बन्ध आदि की विषमता काव्यानुभूति में विरसता ही उत्पन्न करती है।

समाधि-

दीर्घादि अक्षरों की प्रचुरता से प्राणवायु ऊर्ध्वगति होती है, यह आरोह है, लघु आदि शिथिल अक्षरों का प्रयोग अवरोह। शब्दों का यह आरोहावरोहात्मक क्रम ही समाधि है।[७] आरोहपूर्वक अवरोह अथवा अवरोहपूर्वक आरोह, दोनों ही प्रकार से इसकी स्थिति मान्य है। ये दोनों गुण विपरीत स्वभाव के हैं, अतः इनकी स्थिति पृथक्-पृथक् होती है। ओज और प्रसाद गुण एक साथ रहा करते हैं, अतः उनके साथ इनके सङ्कर की सम्भावना नहीं है।[८] दूसरे ओज और प्रसाद में क्रमशः आरोह और अवरोह की स्थिति सार्वत्रिक नहीं है।[९] कहीं-कहीं इन गुणों की तीव्रता में ही इनकी स्थिति होती है।[१०] अतः एक विशेष दशा में जब ओज और प्रसाद में आरोह और

---

१. अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मता।। - ना० शा०, १६/१०१

२. अवैषम्यं समता। -का० सू० वृ०,३/२/५

३. क्वचित्क्रमोऽपि भिद्यते।- वही, वृत्ति

४. सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति। वही, ३/२/६

५. ततश्चापदोषत्वमेतन्न गुण इति। -का० अनु०, पृ०२८०

६. का० प्र०, अष्टम उल्लास।

७. आरोहावरोहक्रमः समाधिः।-का० सू० वृ०, ३/१/१३

८. न सम्पृक्तत्त्वात्। वही, ३/१/१५ एवं वृत्ति।

९. अनैकान्त्याच्च। का० सू० वृ०,, ३/१/१६

१०. ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायां ताविति चेदभ्युपगमः। वही, ३/१/७

अवरोह का आविर्भाव होता है तो एक तृतीय गुण सृष्ट हो जाता है, जिसे समाधि कहते हैं। अपि च, आरोह अथवा अवरोह के स्थलों के क्रम से आरोहण अथवा अवरोहण के उद्‌बोध होने के कारण[१] भी समाधि को पृथक् गुण ही माना जाना चाहिए।

इसके अर्थगत स्वरूप को वामन ने अर्थ-दर्शन के ही रूप में देखा।[२] काव्यार्थबोध के लिए चित्त की एकाग्रता अपरिहार्य है। इस सन्दर्भ में काव्य से प्रतीयमान अर्थों का विश्लेषण भी किया गया है। अर्थ दो प्रकार का है-अन्यच्छायायोनि तथा अयोनि।[३] प्रथम अर्थ के लिए अन्य काव्य की पृष्ठभूमि आवश्यक होती है जबकि द्वितीय अर्थ केवल समाहित चित्त से ही कभी तो सहज ही प्रतीत हो जाता है और कभी विषय की सूक्ष्मता तक पहुँचने का प्रयास करना पड़ता है। इनकी संज्ञा क्रमशः व्यक्त और सूक्ष्म है।[४] सूक्ष्म अर्थ भी यदि भाव्य हो तो वह शीघ्र समझ में आ जाता है जबकि वासनीय अर्थ में एकाग्रता की प्रकर्षावस्था अभीष्ट होती है।[५] अस्तु, इस गुण के माध्यम से वामन ने काव्यार्थ-बोध की ओर ही सङ्केत किया है। मम्मट ने इसका खण्डन किया।[६] राजशेखर और क्षेमेन्द्र ने अर्थबोध की इस प्रक्रिया को कवि का गुण माना है।

माधुर्य-

आचार्य भरत ने माधुर्य के सम्बन्ध में कहा था कि श्रुति में जो वाक्य उद्वेगजनक न हो वह माधुर्य गुण से युक्त होता है।[७] भामह ने इस

१. क्रमविधानार्थत्वाद्वा। -वही, ३/१/२०
२. अर्थदृष्टिः समाधिः। -वही, ३/२/७
३. अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा -वही, ३/२/८
४. अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च। -वही, ३/२/९
५. सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च। -वही, ३/२/१०
६. का० प्र०, अष्टम उल्लास।
७. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।। -ना० शा०, १७/१०२

श्रुतिसुखदता में अनतिसमस्तता को भी जोड़ दिया।[१] वामन ने भामह द्वारा दिये गये विशेषण को तो स्वीकार किया परन्तु भरत की परिभाषा को नहीं माना। उनके अनुसार माधुर्य का स्वरूप समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरक पृथक्पदता में अवसित होता है[२] क्योंकि समस्त पदों के बाहुल्य से उच्चारण एवं अर्थप्रतीति दोनों ही बाधित होते हैं। दण्डी ने इसके बिल्कुल विपरीत समास में भी माधुर्य की सत्ता मानी।[३] रसध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार भी यह गुण समस्त अथवा असमस्त पदावली में भी रह सकता है।[४]

अर्थमाधुर्य को वामन ने उक्तिवैचित्र्य कहा है,[५] जिससे वर्ण्य अर्थ मधुर प्रतीत होता है। कामधेनु में इसके विपर्यय के रूप में एकार्थ वा कष्टत्व दोषों का उल्लेख किया गया है।[६]

सौकुमार्य –

शब्द के स्तर पर बन्ध की परुषता से रहित[७] तथा अर्थ के स्तर पर अभिव्यक्ति की रमणीयता के कारण कोमल[८] रचना सुकुमार गुण से युक्त होती है। मृतः के स्थान पर 'यशःशेषः' कथन अर्थ की कोमलता और सुकुमारता से प्राणित है। दण्डी ने इसके लिए अनिष्ठुराक्षरप्रायत्व विशेषण का प्रयोग किया था।[९] कामधेनु टीका में इसके विपर्यय कष्टत्व दोष का

---

१. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते। का० अ०, २/३
२. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।
——— समादैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्———। का० सू० वृ०, ३/१/२ एवं वृत्ति।
३. तदिदमनुभवविरुद्धमिति दण्डी। समासेऽपि माधुर्यस्य दर्शनात्।
का० अनु०, पृ० २८२
४. आनन्दवर्धन, ध्व० आ०, अध्याय २
५. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। का० सू० वृ०, ३/२/११
६. अस्य गुणस्य विपर्ययो –ह्येकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः कथनमित्येकार्थत्वम्। प्राय एकार्थश्रुतेर्वैरस्यात् कष्टत्वं वा। वही, का०धे०
७. अजरठत्वं सौकुमार्यम्। –का० सू० वृ०, ३/१/२२
८. अपारुष्यं सौकुमार्यम्। – वही, ३/२/१२
९. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। – का० आ०, १/६९

उल्लेख किया गया है।[1] त्रिगुणवाद की कल्पना में इसे दोषाभावरूप ही माना गया।[2]

उदारता –

शब्दगत उदारता गुण वामन के अनुसार विकटत्व रूप है जहाँ पद नृत्य करते हुए से प्रतीत होते हैं।[3] इस धारणा को कामधेनु टीका में और भी विस्तार से स्पष्ट करते हुए क्रमशः वर्धमानाक्षरपदत्व कहा गया है। यहाँ पद के प्रथमादि अक्षर का पदान्तर के प्रथमादि अक्षर के साथ सादृश्य विवक्षित है।[4] मम्मट ने इसे ओज का एक भेद मात्र माना।[5]

अभिनवगुप्त ने भरत की धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहाँ मानुषोचित भाव भी दिव्यता से वर्णित किये जाते हैं। करुण, शृङ्गार, अद्भुत आदि अथवा उनके विभावादि का वर्णन होता है, वह उदारता नामक गुण है जिसे कुछ लोग अग्राम्यत्व कहते हैं।[6] इस उल्लेख से टीकाकार ने वामन के सिद्धान्त की ओर ही सङ्केत किया है परन्तु वामन ने अर्थगत उदारता में भी रसभावादि के युक्त होने का कोई सङ्केत नहीं किया। इन्होंने रस का विवेचन कान्ति नामक अर्थगुण के सन्दर्भ में किया है। यह ग्राम्यत्व का अभाव है[7] अथवा ग्राम्य अर्थ भी जब शिष्टता से

---

१. सौकुमार्यस्य विपर्ययः कष्टत्वभिन्नवृत्तत्वे। का० सू० वृ०, ३/१/२२ का० धे०

२. कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं
सौकुमार्यमौज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। का० प्र० उल्लास ४

३. विकटत्वमुदारता।
..........यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानि.........। का० सू० वृ०, ३/१/२३ एवं वृत्ति।

४. क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम्। पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यमिति।
वही, का० धे०।

५. का० प्र०-
..................या च विकटत्वलक्षणा उदारता.......... तेषामोजस्यन्तर्भावः।
का० प्र० ८म उल्लास

६. यत्र मानुषोचितमपि दिव्यतया करुणादियुक्तमपि शृङ्गारेण
विस्मयस्थानमप्यद्भुतेन युक्तं वर्ण्यते तद्गतैर्वा विभावानुसारिभिः
तदुदीर्णं तत्रौदार्यमर्थगुणः। एतदेवाग्राम्यमित्यन्यैरुक्तम्। - अ० भा०, पृ० ३४२

७. अग्राम्यत्वमुदारता। का० सू० वृ०, ३/२/१५

अनुगत हो तो उदारता नामक अर्थगुण होता है। ध्वनिवादी अग्राम्यता को दोषाभाव ही मानते हैं।[१] दण्डी ने इसे माधुर्य का हेतु कहा।

अर्थव्यक्ति –

वस्तु के स्वरूप की स्फुट अभिव्यक्ति अर्थगत अर्थव्यक्ति है[२] और जो पदावली उसकी सफल व्यक्ति कर सके वह इस गुण का शब्दगत स्वरूप है।[३] जहाँ शब्द तत्क्षण और स्पष्ट रूप से अर्थप्रतीति करवाने की क्षमता रखते हैं वहाँ यह अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है। इस गुण की अनिवार्यता इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि कामधेनुकार ने इसके विपर्ययरूप में असाधु, अप्रतीत, अनर्थक, अन्यार्थ, गूढ़ार्थ, यतिभ्रष्ट, क्लिष्ट, सन्दिग्ध और अप्रयुक्त दोषों की सम्भावना की।[४] असाधु शब्द से वाक्यपदीयकार ने भी अनुमान से ही प्रत्ययोत्पत्ति की बात कही थी।[५] उपर्युक्त सभी दोष अर्थ की अभिव्यक्ति में बाधक हैं।

यह वस्तु का स्वभावाख्यान ही उत्तर परम्परा में स्वभावोक्ति अलङ्कार बनकर विकसित हुआ।

कान्ति –

शब्दबन्ध की उज्ज्वलता अथवा नवीनता कान्ति नामक गुण है[६], जिसका निर्वाह न करने पर पुराणच्छाया नामक दोष आपतित हो जाता है[७] और काव्य की सुन्दरता पुराने चित्र के समान मलिन हो जाती है।[८] मम्मट इस गुण को दोषाभावरूप मानते हैं।

---

१. का० प्र०, उल्लास ८

२. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। का० सू० वृ०, ३/२/१३४

३. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। वही, ३/१/२४

४. अस्य च विपर्ययः – असाध्वप्रतीतानर्थकान्यार्थनेयार्थगूढार्थयतिभ्रष्टक्लिष्टसन्दिग्धा – प्रयुक्तानि। वही, का० धे०

५. ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः। वा० प०, १/१५०

६. औज्ज्वल्यं कान्तिः। का० सू० वृ०, ३/१/२५

७. .... यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते............। वही, वृत्ति।

८. पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः। का० सू० वृ०, ३/१/२५

इसके अर्थगत रूप में वामन ने रसप्रक्रिया को समाहित किया है। रचना में जब रस स्पष्ट रूप से उद्दीप्त हों तो इस गुण की स्थिति होती है।[१] अलङ्कारवादी भामह और उद्भट ने इस प्रक्रिया को रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों में अन्तर्हित माना था। मम्मट ने इस गुण को ही रसादि में गतार्थ कर दिया।[२]

इस प्रकार स्वरूपनिरूपण के अनन्तर वामन इनकी स्थापना में भी सप्रयास दिखाई देते हैं। ये सभी गुण सहृदयों के द्वारा अनुभव किये जाते हैं[३] तथा प्रवृत्ति के अबाधित होने के कारण ये भ्रममूलक भी नहीं कहे जा सकते।[४] कुछ विरोधी आचार्य इन्हें पाठधर्म मानते थे। इनमें से ५ गुणों को पाठधर्म मानने वालों के मत का उल्लेख हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में किया है[५] परन्तु सर्वत्र, सब पाठों में, इन गुणों के अदृष्ट होने के कारण यह सम्भावना भी नहीं की जा सकती।[६] अस्तु।

वामनाभिमत यह गुणविवेचन भाषाशिल्प के साथ-साथ आभ्यन्तर अर्थतत्त्व की भूमिका को भी लेकर उपस्थित होता है तथापि शाब्दिक अभिव्यक्ति गुणों के सन्दर्भ में निःसन्देह प्रधान है।

अलङ्कार परिच्छेद के प्रारम्भ में भामह ने प्रसाद, माधुर्य और ओज का विवेचन किया था, जो मुख्यतः समास पर आधारित है। ध्वनिवादियों

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। - वही, ३/२/१५

२. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभाव-स्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता।

— का० प्र०, उल्लास ८

३. नासन्तः संवेद्यत्वात्। का० सू० वृ०, ३/१/२६

४. न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात्। वही, ३/१/२७

५. ओजःप्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पञ्चेत्यपरे। तथा हि यददर्शि विच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहतरङ्गिणि पाठे माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति।

— का० अनु०, पृ० २८७

६. न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः। का० सू० वृ०, ३/१/२८

ने इन्हीं तीन तत्त्वों में वामन के समस्त दश काव्यगुणों को समेट दिया। वस्तुतः यह स्वाभाविक भी था। दस-दस शब्द और अर्थ गुणों में अन्त तक पार्थक्य का निर्वाह कर पाना सहज भी नहीं था, अतः वामन के गुण कहीं एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करने लगे थे। एकाध गुण तो अलङ्कार की सीमा में प्रविष्ट हो चला था और कुछ गुण तो ऐसे भी थे जिनके पृथक् निर्देश की आवश्यकता ही नहीं थी। दोषों का परिहार करते समय उनका सत्त्व स्वयं ही काव्य में आविर्भूत हो जाता है।[1] भेदप्रस्तार की इस प्रक्रिया को वैज्ञानिक आधार पर नियमित करने के प्रयास में मम्मट ने वामन के गाढ़बन्धत्वरूप ओज, मसृणत्वरूप श्लेष, आरोहावरोहक्रमरूप समाधि, बन्धविकटत्वरूप उदारता और ओजोमिश्रित शैथिल्यरूप प्रसाद का ओज में पृथक्पदत्वरूप माधुर्य का माधुर्य में और पदों के अर्थसमर्पणरूप अर्थव्यक्ति का प्रसाद में अन्तर्भाव कर दिया। मार्गभेदरूप समता तो कहीं दोष ही हो जाती है। अपारुष्यरूप सौकुमार्य तथा औज्वल्यरूप कान्ति कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषों के निराकरण से स्वयं ही काव्य में आविर्भूत हो जाते हैं। अर्थ के स्तर पर ओज की स्वरूपाधायक प्रौढ़ि के प्रथम चार प्रकार तो उक्तिवैचित्र्यमात्र हैं जबकि इसका साभिप्रायत्वरूप पञ्चम प्रकार, अर्थवैमल्यरूप प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्य, अपारुष्यरूप सौकुमार्य तथा अग्राम्यत्वरूप उदारता नामक गुण क्रमशः अपुष्टार्थ, अधिकपदत्व, अनवीकृत, अमङ्गलरूप अश्लील तथा ग्राम्य दोषों के निराकरण से ही उपपन्न हो जाने हैं। वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूप अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार में तथा दीप्तरसत्वरूप कान्ति रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में ही समाहित हो जाते हैं। क्रम के अतिक्रमण में होने वाली अस्पष्टता की उपपत्तिरूप समता भी दोषाभाव ही है और अर्थदर्शनरूप समाधि के विना तो काव्यत्व ही निष्पन्न नहीं होता, उसे काव्यगुण किस प्रकार माना जा सकता है। इस प्रकार मम्मट की प्रक्रिया में अन्य कोई भी शब्दगुण अथवा अर्थगुण गुणत्व का अधिकारी नहीं। जब वामन के बीस गुणों की यह स्थिति थी तो भोज के ७२ गुण तो शास्त्रीय परम्परा में कैसे स्वीकार हो सकते थे। परन्तु दूसरी

---

१. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे स्थिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।। - का० प्र०, ८/७

और वामन के इस प्रकरण पर मम्मट के विवेचन के विषय में गोपेन्द्र त्रिपुरहर की टिप्पणी भी, कि यह सब पाण्डित्य की प्रचण्ड खुजली को शान्त करने का प्रयास है[१] सारहीन नहीं कही जा सकती।

वामन और मम्मट में वस्तुतः प्रस्थानभेद का अन्तर है और मम्मट द्वारा वामन की यह ओलाचना रीतिवाद को रसध्वनिवाद के पैमाने से देखने का प्रयास है । तथापि इतना स्पष्ट ओर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वयं वामन की ही मान्यतायें अनेक स्थलों पर सङ्कुलित हो गयी हैं। एक बात यह भी है कि पश्चाद्वर्ती परम्परा में भेदविभाग की अपेक्षा भेदनियमन को अधिक महत्त्व दिया गया। पण्डितराज रसध्वनिवादियों से असहमत होकर गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ से मानते हुए भी गुणसंख्या के विषय में दण्डी अथवा वामन को यथावत् स्वीकार नहीं कर पाये। वामन सम्मत दश शब्दगुणों तथा दश अर्थगुणों का आदरसहित विवेचन करते हुए भी वे सिद्धान्त रूप में त्रिगुणवाद को ही स्वीकार करते हैं।

दूसरी ओर भामह ने तीन तत्त्वों का विवेचन किया अवश्य परन्तु वे स्वयं भी इतने भर से सन्तुष्ट नहीं थे। काव्यालङ्कार के अनेक प्रकीर्ण स्थलों पर भी वे भिन्न काव्यगुणों की ओर सङ्केत करते प्रतीत होते हैं। वैदर्भ और गौड काव्य के सन्दर्भ में अलङ्कारवत्त्व, अग्राम्यत्व, अर्थवत्त्व, न्याय्यत्व और अनाकुलत्व गुणों का उल्लेख है।[२] एक अन्य स्थल पर सन्निवेशविशेष की चर्चा है।[३] इनका प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रभाव वामन पर भी अवश्य पड़ा। वामन का कान्ति नामक शब्दगुण और उदारता नामक अर्थगुण भामह के अग्राम्यत्व से प्रभावित है। इसी प्रकार भामह का अर्थवत्त्व और वामन का समाधि नामक अर्थगुण भी भावना की दृष्टि से पर्याप्त निकट है। भाविक की गणना यद्यपि अलङ्कारों के प्रसङ्ग में हुई है परन्तु उसे भी वे वस्तुतः प्रबन्धविषयक गुण ही मानते हैं।[४] दण्डी ने भी इसका वर्णन इसी पद्धति

---

१. अथापि यदि पाण्डित्यकण्डूलवैतण्डिकचण्डिम्ना चिखण्डयिषा परस्य........।
का० सू० वृ०, ३/१/४ पर का० धे०

२. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। का० अ०, १/३५

३. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते। का० अ०, १/५४

४. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। –वही, ३/५३

में किया है। यह गुण वहाँ होता है जहाँ भूत और अनागत अर्थ प्रत्यक्षवत् प्रतिभासित हो उठते हैं।[१] स्वयं यह गुण भी भामह के अनुसार अर्थ के वैचित्र्य, औदात्त्य, अद्भुतत्व, कथा की स्वभिनीतता तथा शब्दों की स्पष्टतारूप गुणों से निष्पन्न होता है।[२]

पुनरपि कहा जा सकता है कि भामह के काव्यालङ्कार में प्राय: विशृङ्खलता दिखाई देती है जबकि वामन का ग्रन्थ इस दृष्टि से पर्याप्त क्रमबद्ध है यद्यपि उनकी अनेक स्थापनायें रसध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं हो सकीं। औदीच्य परम्परा में ध्वनि की उद्भावना के बाद गुणों का सम्बन्ध आत्मभूत रस के साथ परिकल्पित किया गया। वहाँ भामह उपजीव्य बने। उन्हीं के द्वारा प्रदत्त तीन गुण श्रद्धा के साथ स्मरण किये जाते रहे। वामन यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित हुए, वे दाक्षिणात्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य गुणों को शब्दार्थनिष्ठ ही मानते रहे। पण्डितराज रसध्वनिवाद को सिद्धान्तरूप में स्वीकार करते हुए भी गुणों को केवल रस का ही धर्म नहीं मानते। गुणों का स्वरूप उनके अनुसार चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वरूप है जो न केवल रस में, प्रत्युत शब्द, अर्थ और रचना में भी पाया जाता है। ऐसा मानते हुए वे वामनीय परम्परा से भी यत्किञ्चित् प्रभावित हुए हैं।

❑❑❑

---

१. प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन:। वही

२. चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथाया: स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते। वही, ३/५४

षष्ठ विमर्श

अलङ्कारमीमांसा

स्वरूप

अलङ्कार एक महासंज्ञा है–सौन्दर्यापरपर्याय[१]। गुणों की गणना दण्डी ने विभिन्न काव्यमार्गों के विशिष्ट अलङ्कारों के रूप में की थी[२] जबकि रस भी वामन के अनुसार कान्ति नामक अर्थगुण ही है[३]। नाट्यप्रयोग से काव्यसरणि में उतरते ही अपने इतिहास के प्रथम चरण में यह रसवद् अलङ्कार था[४]। ध्वनि को भी अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत मानने वाले आचार्यों का एक वर्ग आनन्दवर्धन के समय में ही था[५]। इस प्रकार गुण, रस, ध्वनि आदि सभी मान्यतायें किसी समय में अलङ्कार संज्ञा से उपजीवित थीं। दण्डी का यह कथन कि "अन्यत्र जो सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षणादि के नाम से वर्णित किये गये हैं, हमें वे सब 'अलङ्कार' के रूप में ही इष्ट हैं"[६], इस संज्ञा की व्यापकता तथा महत्ता को प्रकट करता है परन्तु विकास के दूसरे स्तर पर इस शब्द का सीमाविस्तार अत्यन्त सङ्कीर्ण शब्द और अर्थ के चमत्कार तक सीमित रह गया। इनमें से भी कुछ आचार्य तो ऐसे थे जो केवल शब्दसङ्घटना को ही प्रधान मानते थे, भामह ने इसके लिए "सौशब्द्य" शब्द का प्रयोग किया है[७]। उनकी अपनी सम्मति में काव्यशोभा के आधायक तत्त्व के रूप में शब्द और अर्थ दोनों ही में वक्रता का आधान

---

१. सौन्दर्यमलङ्कारः। का० सू० वृ०, १/१/२

२. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत्प्रदर्श्यते।। का० आ० २/३

३. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ०, ३/२/१५

४. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा। का० अ० ३/६

५. न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलना महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति। ध्व० आ० १/७३

६. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः।।

७. तदेतदाहुः सौशब्द्यम्.............................। का० अ० १/१५

अभीष्ट है[१]। यह वक्रता ही अलङ्कृति का हेतु[२] एवं च शास्त्र और वार्त्ता से काव्य का भेदक आधार है। हेतु, सूक्ष्म और लेश भी भामह के अनुसार इसलिए अलङ्कार नहीं कि इनमें वक्रोक्ति का अभिधान नहीं होता[३]। दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदविन्यास को काव्य मानकर[४] उसके शोभाकारक धर्मों को अलङ्कार कहा था[५]। यह धर्म ही वक्रता है–कवि का वैचित्र्ययुक्त चमत्कारकारक कथन, जिसे कुन्तक ने वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कहा और इस प्रकार भामह के ये सङ्केत वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना के बीज बने।

अलङ्कारविवेचन के इतिहास का दूसरा युग वामन से प्रारम्भ होता है। वे दाक्षिणात्य परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। दण्डी ने 'अलङ्कार' की जो परिभाषा प्रस्तुत की थी, वामन ने उसे ही गुण कहा। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से कहने का साहस किया कि अलङ्कारत्व यद्यपि सौन्दर्य की समग्रता में निहित है तथापि गौण रूप से इसके साधक उपादानों में भी इस शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है।[६] काव्य में सौन्दर्य की यह समग्रता वामन के अनुसार गुणों से आविर्भूत होती है, अलङ्कार उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं[७], जैसे रमणी गुणों से कमनीय होकर आभूषणों से विभावित होती है[८]। भामह और वामन में, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अलङ्कार और रीति सम्प्रदाय में यही प्रमुख अन्तर है कि प्रथम प्रस्थान में जहाँ अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व अथवा स्वरूपाधायक था, बाद में उसकी स्थिति घटकर गुणों के द्वारा सृष्ट सौन्दर्य के उत्कर्षाधान तक सीमित रह

---

१. वक्राभिधेशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। का० अ० १/३६
२. .... कोऽलङ्कारोऽनया विना। का० अ० २/८५
३. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः। का०अ० २/८६
४. शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। का० अ० १/१०
५. काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते। का०अ० २/१
६. करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्त्तते। का० सू० वृ०, १/१/२ वृत्ति
७. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। का० सू० वृ०, ३/१/१-२
८. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। का० अ० १/१३

गयी परन्तु ऐसा कहते हुए उपमादि के अर्थ में सङ्कुचित अलङ्कार शब्द का ही ग्रहण किया जाता था, जो करणार्थक घञ् प्रत्यय के प्रयोग से निष्पन्न हुआ है। यही कारण है कि कुल ३८ अलङ्कारों का विवेचन करने वाले भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं क्योंकि वे अलङ्कार को काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानते हैं जबकि ७० और ८० अलङ्कारों का विवेचन करने वाले मम्मटविश्वनाथ ध्वनि वा रस सम्प्रदाय के आचार्य क्योंकि उनके यहाँ रस अथवा ध्वनि के कारण ही काव्य ग्राह्य हो पाता है तथा अलङ्कार की स्थिति उसके शोभावर्धक अनित्य धर्मों के रूप में ही कल्पित की गयी है।

वामन का विवेचन अलङ्कार के वास्तविक क्षेत्र को स्पष्ट करने के साथ-साथ इस शब्द की मूल उद्भावना और प्रयोग की सीमा को भी स्पष्ट करने में कृतकार्य हुआ है। परवर्ती परम्परा में वामन की इस स्थापना का पर्याप्त समादर हुआ। रसध्वनिप्रस्थान में आकर भी अलङ्कारों को काव्य का उत्कर्षक ही माना जाता रहा[१] परन्तु अपने इस हीन अर्थ में ये आत्मपद से वञ्चित होकर शब्दार्थरूप शरीर के आश्रित एक वैचित्र्यमात्र तक सीमित रह गये। काव्यपुरुष की कल्पना के साथ ही आभूषणों के समान इनकी स्थिति भी वैकल्पिक हो गयी[२] और उस पर भी इनका यथोचित रसपरक सन्निवेश अनिवार्य माना गया[३]। ऐसे में पुनः भामहकृत वस्तु और स्थान की सीमाओं से अनुगत 'सन्निवेशविशेष' की मर्यादा का स्मरण आता है[४] परन्तु वामन की मौलिकता और उपजीव्यता फिर भी निःसन्दिग्ध रही। अस्तु।

काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य से है जिसकी ईदृक्ता और इयत्ता की व्याख्या 'इदमित्त्थम् के रूप में नहीं की जा सकती। इसीलिए इसके विविध विकल्पों की सङ्कल्पना निरन्तर की जाती रही। अतः सम्पूर्ण रूप से इनका

---

१. उत्कर्षहेतवस्ते स्युर्गुणालङ्काररीतयः। सा० द० १/३

२. (१) अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्। वही
   (२) अनलङ्कृती पुनः क्वापि। का० प्र० १/४

३. रसादिपरता यत्र सोऽलङ्कारो ध्वनेर्मतः। ध्व० आ० २/८

४. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते। का० अ० १/५४

विश्लेषण कर पाना सुकर नहीं, दण्डी ने भी इस ओर सङ्केत किया था[१]। निरुक्तकार गार्ग्य तक जो केवल मात्र 'उपमा' ही के सङ्केत मिलते हैं, नाट्यशास्त्र तक आते-आते उनकी संख्या चार तक पहुँच गयी थी। भरत से लेकर भामह तक की परम्पर में कितने और आचार्यों का योगदान रहा है, आज यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु काव्यालङ्कार में विभिन्न वर्गों में वर्णित अलङ्कारों को इसी विकासात्मक पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए।

नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यविश्लेषण के तीन स्रोतों गुण, अलङ्कार और लक्षण की ओर सङ्केत किया है। नाट्यशास्त्र में इन तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन है परन्तु काव्यतत्त्वों की समीक्षा की दृष्टि से लक्षण को गुण और अलङ्कारों की पूर्वभूमि मान लिया गया। यह अलंभाव की अपरिपक्व स्थिति है जिसे मम्मट अस्फुटालङ्कारता कहते हैं। अलङ्कारों के विकास में इन लक्षणों का योगदान भी अवश्य रहा होगा[२]। अभिनवगुप्त ने ऐसे अनेक अलङ्कारों का उल्लेख किया है जो किसी लक्षणविशेष से विकसित हुए। इनमें से कुछ लक्षण तो सम्भवत: अलङ्कार बनने से पूर्व ही लुप्तप्राय हो गये।

वामन ने काँट छाँट करने के अनन्तर कुल ३१ अलङ्कारों को मान्यता प्रदान की। इनमें से अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कार हैं[३]। शेष सभी अलङ्कारों का सम्बन्ध उपमा से है, यह निर्देश ग्रन्थकार ने कम से कम दो बार दिया है[४]। स्वभावोक्ति आदि को, जिनका सम्बन्ध उपमा से नहीं था, उन्होंने अलङ्कार ही नहीं माना। परन्तु इसकी अपेक्षा बाद में भामह से सङ्केत लेकर शब्द और अर्थ के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक लोकप्रिय हुआ। स्वयं भामह की प्रवृत्ति वर्गीकरण करने की अपेक्षा

---

१. काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। का० आ० २/१

२. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्यसमीक्षा में अलङ्कार सिद्धान्त, पृ० ३२

३. तत्र शब्दालङ्कारौ यमकानुप्रासौ। का० सू० वृ०, ४/१/२ की वृत्ति

४. (१) प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। वही ४/३/१
(२) तन्मूलं चोपमा। वही ४/२/१ वृत्ति

विश्लेषणात्मक अधिक थी। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का विभाजन बहुत सूक्ष्म न होकर भी सरल और स्पष्ट अवश्य था। अनन्तर उपमालङ्कार की भी कल्पना कर ली गयी। भोज ने उभयालङ्कारविवेचन के लिए एक स्वतन्त्र परिच्छेद ही लिखा है[१]।

भामह ने काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद में काव्य के विविध भेदों का वर्गीकरण करने के उपरान्त काव्यमात्र को प्रवृत्ति और प्रयोग की दृष्टि से वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्तिरूप माना है[२]। वामन क्योंकि अलङ्कारों का वर्गीकरण शब्दालङ्कार और उपमामूलक अलङ्कार के रूप में करते हैं, अतः जिनका सम्बन्ध उपमा से नहीं था, वामन ने उन्हें अलङ्कार नहीं माना परन्तु स्वभावोक्ति के काव्य का अनिवार्य तत्त्व होने का निषेध वे नहीं कर सके। इसका विवेचन उन्होंने अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण में किया। भामह की वक्रोक्ति को इतना महत्त्व प्रदान करते हुए भी वे स्वभावोक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। अतएव उन्होंने वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति से युक्त प्रत्येक काव्यविधा का स्वागत किया। दण्डी ने भामह की इस मान्यता को स्वीकार कर इसमें श्लेष द्वारा वक्रोक्ति के चमत्कृत होने की बात और जोड़ दी[३]। रुद्रट ने स्वभावोक्ति को वास्तव नाम दिया तथा इस समस्त विवेचन का समाहार करने का प्रयास किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के रूप में विभाजन कर पुनः अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार उपभेदों में बाँटा[४]।

यमक और अनुप्रास (शब्दालङ्कार)

शब्दसंयोजन का काव्य में अर्थसम्प्रेषण की दृष्टि से महत्त्व होता है इस तथ्य को नाट्यशास्त्र के लेखनकाल तक ही पहचान लिया गया था। आचार्य भरत ने इस समग्र शब्दालङ्कारप्रपञ्च को यमक नाम

---

१. इदानीमुभयालङ्कारविवेचनाय परिच्छेदमारभ्यते। स० क०, अध्याय ४

२. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। का० अ० १/३०

३. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। का० आ० २/३६३
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।।

४. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशयश्लेषः। का० अ० (रु) ७/९

दिया।[१] जो अपने व्यापक परिवेश में वर्ण और पद दोनों के चमत्कारों को समेटे हुए है। भामह के समय तक आते-आते शब्दसौन्दर्य के इस विश्लेषण के दो स्पष्ट आधारों की परिकल्पना की जा चुकी थी। यमक का सीमाविस्तार अनुप्रास के प्रवेश से सीमित हो गया था। राजशेखर ने प्रचेतायन नामक आचार्य का उल्लेख किया है, जिसने सर्वप्रथम अनुप्रास की सङ्कल्पना की थी। स्वरूपविकास की इस अवस्था में एक ओर दण्डी द्वारा अलङ्कारों के प्रसङ्ग में अनुप्रास को महत्त्व न दिया जाना (दण्डी ने माधुर्य गुण के सन्दर्भ में यमक-अनुप्रास की चर्चा की है। यहाँ अनुप्रास वर्णन का मुख्य उद्देश्य वैदर्भ और गौडों की काव्यदृष्टि में पार्थक्य दिखाना भर है। अलङ्कारों के प्रसङ्ग में इसका विवेचन नहीं हुआ।) तथा दूसरी ओर उद्भट का यमक के विषय में आश्चर्यजनक मौन कुछ प्रश्न अनुत्तरित छोड़ जाता है। सम्भवत: आलोचना के स्तर पर यमक और अनुप्रास के सापेक्षिक महत्त्व को लेकर इस समय पर्याप्त विवाद रहा होगा। कालान्तर में दोनों का स्वरूप स्थिर हो गया। वामन ने स्पष्टत: उन्हें शब्दालङ्कार कहा[२]।

भामह ने दोनों अलङ्कारों के लिए कुछ विशेषण जोड़कर उनके व्यावर्त्तक धर्मों की कल्पना की। समान रूप वाले वर्णों का अनेकधा विन्यास अनुप्रास है[३]। उद्भट ने भामह के 'वर्ण' शब्द का अनुवाद व्यञ्जन के रूप में किया।[४] अनुप्रास में केवल व्यञ्जनों की आवृत्ति होती है जबकि यमक में तुल्यश्रुति परन्तु भिन्नार्थक स्वरव्यञ्जनसमुदाय का अभ्यास इष्ट है[५]। वर्णसङ्घ की भिन्नार्थकता यमक का एक महत्त्वपूर्ण नियामक आधार है। रुद्रट ने इसमें क्रम की समानता को और जोड़ दिया[६]।

---

१. शब्दालङ्कारस्वरूपमाह शब्दाभ्यासस्तु यमकमिति। भरत, ना०शा०अ०भा०, पृ० ३२६

२. तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ। का० सू० वृ०, ४/१/१ की वृत्ति

३. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। का० अ० २/५

४. सरूपव्यञ्जनन्यासम्० ....। का० सा० सं० १/७

५. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयै: परस्परम्।
वर्णानां य: पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते।। का० अ० २/ १७

६. तुल्यश्रुतिक्रमाणामर्थानां मिथस्तु वर्णनम् । का० अ० (रु०) ३/१

काव्यशास्त्र की प्रौढ़ावस्था में जाकर इन सभी विशेषणों को यमक की सीमा में समाहित कर लिया गया।

वामन के अनुसार अनेकाक्षर पद अथवा अक्षर की 'स्थाननियम' से आवृत्ति यमक है[१]। सम्पूर्ण पाद अथवा एक वा अनेक पादों के आदि मध्यान्त भाग ही स्थान हैं।[२] इस लक्षण में सर्वप्रथम आवृत्त पदों की स्थिति प्रधान रूप से अनेक पादों में स्वीकार की गयी क्योंकि पद की स्ववृत्ति से अथवा यथास्वरूप प्रतीयमान सजातीय वर्ण से सम्पूर्णत: अथवा अंशत: अनेक पादों में व्याप्ति ही स्थाननियम है[३]। एकपादगत यमक विभिन्न पादस्थ यमकों का सजातीय होने के कारण ही लक्षणा से स्थाननियम की सीमा में आता है[४] परन्तु वामन का यह सिद्धान्त उनके अपने साथ ही समाप्त हो गया। उत्तरवर्ती परम्परा पर भामह का ही अधिक प्रभाव पड़ा।

नाट्यशास्त्र के लेखक ने समस्त शब्दाभ्यास को 'यमक' नाम देकर उसके दस भेदोपभेदों का निरूपण किया[५]। इसमें शब्दालङ्कार का प्रत्येक चमत्कार समा सकता था। भामह का दावा था कि भरत द्वारा निर्दिष्ट ये सभी भेद पाँच शीर्षकों में अन्तर्भुक्त किये जा सकते हैं[६]। भामहकृत पाँच भेद हैं–आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद यमक।

आदियमक प्रत्येक पाद के आदि में तुल्यश्रुति, भिन्नार्थ वर्णों का पुनर्वाद है, यह उदाहरण से स्पष्ट है[७]। यमक के किसी भी भेद का लक्षण

---

१. पंदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम्। का० सू० वृ०, ४/१/१

२. पाद: पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागा: स्थानानि। वही ४/१/२

३. स्ववृत्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्ति: स्थाननियम इति।
वही ४/१/१ की वृत्ति

४. यानि त्वेकपदभागवृत्तीनि यमकानि दृश्यन्ते तेषु श्लोकान्तरस्य संस्थानयमकापेक्षयैव स्थाननियम इति। वही

५. ना० शा०, १६/६६-८४

६. सन्दष्टकसमुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तद्यथा। का० अ० २/१०

७. साधुना साधुना तेन राजता राजता भृता।
सहितं सहितं कर्तुं सङ्गतं सङ्गतं जनम्।। का० अ० २/११

काव्यालङ्कार में नहीं मिलता। इसे भरत के सन्दष्ट यमक के समकक्ष रखा जा सकता है[१]।

मध्ययमक और अन्तयमक को मिलाकर मध्यान्तयमक की स्थिति होती है, जहाँ पाद के मध्य और अन्त में पद आवृत्त हो रहे हों[२] परन्तु इसी सरणि पर आदिमध्य और आद्यन्त भेदों का निरूपण नहीं है। यह भामह की अपनी सङ्कल्पना है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख नहीं।

किसी एक पाद का दूसरे पाद में सम्पूर्ण पुनर्वाद पादाभ्यास यमक है[३]। इसका उदाहरण भरत के विक्रान्त यमक[४] का है। समुद्ग यमक (भरत) भी इसी कोटि का है। इसमें पूर्वार्ध की उत्तरार्ध में अविकल आवृत्ति होती है[५]।

विना स्थानमर्यादा के विभिन्न यमकों का प्रयोग 'आवली' है[६]। समस्तपादयमक में वर्णसंघ की आवृत्ति एक निश्चित स्थान पर होती है[७]। भरत के पादादि तथा पादान्त यमक को इसके लक्षण में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

भामह ने एक ओर यमकभेदों में संकोच करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर इसके विरोध में दण्डी ने इसके कम से कम ३१५ भेदोपभेद प्रदर्शित किये। वामन इस विश्लेषणपद्धति से सहमत नहीं थे। उन्होंने

---

१. आदौ द्वौ यत्र पादौ तु भवेतामक्षरैः समौ। ना० शा० १६/ ७६

२. उदाहरण - साधुः संसाराद्बिभ्यदस्मदसारात्
कृत्वा क्लेशान्तं याति वर्त्म प्रशान्तम्।
जातिं व्याधीनां दुर्दमानामधीनां।
वाञ्छञ्ज्यायस्त्वं छिन्धि मुक्तानयस्त्वम्।। का० अ० २/१२

३. उदाहरण - न ते धीर्धीरभोगेषु रमणीयेषु सङ्गता।
मुनीनपि हरन्त्येते रमणी येषु सङ्गता।। वही २/१३

४. एकैकपादमुत्क्षिप्य पादौ सदृशौ यदा। ना०शा० १६/७२

५. अर्धेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव समाप्यते। वही १६/७०

६. उदाहरण -सितासिताक्षीं सुपयोधराधरां सुसम्मदां व्यक्तमदां ललामदाम्।
घनाघनानीलघनाघनालकां प्रियामिमामुत्सुकयन्ति यन्ति च।। का० अ० २/१४

७. उदाहरण - अमी नृपा दत्तसमग्रशासनाः कदाचिदप्यप्रतिबद्धशासनाः।
कृतागसां मार्गभिदां च शासना पितृक्रमाध्यासितनादृशासनाः।। वही, २/१५

प्रकारान्तर से पदयमक तथा अक्षरयमक के रूप में इसके दो भेद किये। पदयमक के एक ही पाद में आदि मध्यान्त, दो पादों में आदि मध्यान्त, पाद के व्यवधान से पादान्त यमक अथवा चारों पादों के अन्त में यमक इत्यादि रूप में अनेक भेद हो सकते हैं। इसी दिशा में अन्य भेद भी कल्पित किये जा सकते हैं। अक्षरयमक पुनः एकाक्षर तथा अनेकाक्षर के भेद से दो प्रकार का है। स्थाननियम के कारण एकाक्षरयमक अनुप्रास की सीमा में हस्तक्षेप नहीं करता। सजातीय वर्णों के निरन्तर प्रयोग से इसका उत्कर्ष होता है[१]। वामनकृत यह विभाजन भी उत्तर काल में स्वीकार्य नहीं हो सका।

वामन ने 'यमकाद्भुत' नामक यमकभेद का भी उल्लेख किया है। कामधेनु टीकाकार ने इसकी व्याख्या 'अतिशयित यमक' कहकर की है[२]। यहाँ संख्या, कारक, सुबन्त अथवा तिङन्त पदों की आवृत्ति होती है[३]। सम्भवतः यह भेद वामन के समय में प्रचलित रहा होगा परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है।

काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रारम्भिक काल में यमक के स्वरूप के विषय में यद्यपि यत्किञ्चित् मतभेद मिलता है परन्तु अनुप्रास का स्वरूप बाद में भी लगभग निश्चित सा रहा है। भामह ने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया[४], उद्भट ने उसके स्थान पर 'व्यञ्जन' का[५]। वामन ने यमक का निरूपण पहले करके शेष सारूप्य को अनुप्रास कहा[६]। 'शेष' पद एकार्थक अथवा अनेकार्थक पदों तथा स्थाननियम से च्युत पद अथवा अक्षर का वाचक है[७]। यमक में स्वरव्यञ्जनसङ्घात की आवृत्ति सम्पूर्ण रूप से होती है परन्तु अनुप्रास में ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है।

---

१. का० सू०वृ० ४/१/२ की वृत्ति
२. यमकाद्भुतमतिशयितं यमकमित्यर्थः। वही ४/१/७ पर का० धे०
३. विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम्।। वही ४/१/७ पर वृत्ति
४. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। का० अ० २/५
५. सरूपव्यञ्जनन्यासम् ....। का० सा०सं० १/७
६. शेषः सरूपोऽनुप्रासः। का० सू० वृ० ४/१/८
७. पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः। वही, वृत्ति

वामन थोड़ा और आगे बढ़कर अनुप्रास के सौन्दर्य की दृष्टि से अनुल्बण (मधुर) वर्णों के प्रयोग को श्रेयान् मानते हैं[१]। भामह ने इस प्रकार का कोई उल्लेख तो नहीं किया परन्तु सदृश अक्षरों में अभिधेयभिन्नता की बात वे अवश्य करते हैं[२]।

वामन के अनुसार वर्ण और पाद के भेद से अनुप्रास दो प्रकार का है। पादानुप्रास के प्रभेद पादयमक की तरह ही कल्पित किये जाने चाहिए[३]। भामह ने अनुप्रास के कोई भेद नहीं बताये परन्तु अनुप्रास के विवेचनप्रसङ्ग में ग्राम्यानुप्रास और लाटानुप्रास का भी उल्लेख किया है। लक्षण किसी का भी नहीं दिया। उदाहरण है परन्तु वे उनके स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाते। ग्राम्यानुप्रास के उदाहरण में 'ल' अक्षर की बहुशः आवृत्ति है[४], अतः अनुप्रास का ही लक्षण इस पर घटित होता है। ग्राम्य से अभिप्राय सम्भवतः वर्ण के अकुशल प्रयोग से होगा परन्तु अकुशल प्रयोग में अलङ्कारत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? 'ल' वर्ण को भी ग्राम्य नहीं कहा जा सकता। अन्य किसी भी आचार्य ने अनुप्रास के ग्राम्य और अग्राम्य भेद नहीं किये परन्तु इस सन्दर्भ में काव्यालङ्कारसारसंग्रह के लेखक उद्भटाचार्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अनुप्रास की तीन वृत्तियों परुषा, नागरिका और ग्राम्या का वर्णन किया है।[५] इस सन्दर्भ में टीकाकार इन्दुराज ने ग्राम्या वृत्ति में लकारादि वर्णों का बाहुल्येन प्रयोग सिद्धान्तित किया है।[६] मम्मटाचार्य ने इसके लिए 'कोमला' संज्ञा का प्रयोग कियां है तथा यह निर्दिष्ट किया है कि वामनादि आचार्यों ने जो वैदर्भी

---

१. अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्। वही ४/१/९

२. नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः।
युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः।। का० अ० २/७

३. पादानुप्रासः पादयमकवत्। का० सू०वृ० ४/१/१०

४. ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बलः।। का० अ० २/६

५. का० सा० सं० १/४-७

६. परुषोपनागरिकोपयुक्तवर्णावशिष्टैर्वर्णैर्लकारादिभिरूपनिबध्यमाना ग्राम्या। तस्या एव चापरं नामधेयं कोमलेति। —का० अ० सा० सं० १/६ पर ल० वृ०

आदि रीतियों का उल्लेख किया है, वे अनुप्रास की वृत्तियाँ ही हैं।[1] लाटानुप्रास का स्वरूप यमक के लक्षण में सङ्क्रमित हो सकता है। इसका जो उदाहरण काव्यालङ्कार में दिया गया है वह भरत के सन्दष्ट यमक का भी हो सकता है। उद्भट ने इन दोनों का विवेक मूलार्थ के एक होने पर भी फल के आश्रयभेद से किया[2]।

यमक और अनुप्रास शब्दालङ्कार हैं और शब्दाभ्यास ही में अत्यन्त आसक्ति काव्य के भावपक्ष को शिथिल कर देती है। भरत का चतुर्व्यवसित यमक बाद में चित्र के रूप में विकसित हुआ। अतः भामह के समय से ही शब्दाभ्यास के अनावश्यक मोह पर अङ्कुश रखने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। यमकविवेचन के अनन्तर तीन कारिकाओं में काव्यालङ्कार के लेखक ने इसकी व्यवस्था की। यमक में प्रयुक्त पद प्रसिद्धार्थक, ओजःपूर्ण, सुश्लिष्टपदसन्धि, प्रसादपूर्ण तथा अभिव्यक्ति में समर्थ होने चाहिएं। यमक के नाम से नाना धात्वर्थों के प्रयोगवैचित्र्य को प्रदर्शित करने वाला काव्य 'प्रहेलिका' कहा जाता है। काव्यास्वाद द्राक्षापाक की तरह होना चाहिए, शास्त्र के समान व्याख्यागम्य नहीं।[3]

वामन ने दूसरी ओर कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख किया जो यनक के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। एकाक्षर यमक का उत्कर्ष सवर्ण अथवा सजातीय वर्ण की आवृत्ति से होता है[4]। पदभङ्ग यमकमात्र के प्रकर्ष का कारण है[5]

---

१. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। का प्र० ८/८९

२. स्वरूपार्थविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते। का० सा० सं० १/८

३. प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वभिधानञ्च यमकं कृतिनां मतम्।।
नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे।।
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।। का० अ० २/१८-२०

४. सजातीयनैरन्तर्यादस्य प्रकर्षो भवति। का० सू० वृ० ४/१/२ की वृत्तिः

५. भङ्गादुत्कर्षः। वही ४/१/३

जो शृङ्खला, परिवर्तक और चूर्णक नामक तीन प्रकारों से निष्पन्न हो सकता है[१]। वर्णविच्छेद का क्रमशः शृङ्खलाबद्ध सर्पण शृंखला है यथा कलिकामधुक् पद में एक स्थल पर कलि के 'लि' वर्ण पर विच्छेद तथा अन्यत्र कलिका के रूप में 'का' पद पर विच्छेद क्रमशः सरकता हुआ सौन्दर्य का हेतू बनता है। एक परिस्थिति में कलि+कामधुक्+अर्हितम् तथा अपरत्र कलिका+मधु+गर्हितम् परिवर्तक का उदाहरण है। यहाँ अन्य वर्ण से संगति प्राप्त कर वर्ण नये स्वरूप को ग्रहण करता है। विश्लिष्ट संयुक्ताक्षर जब अपने स्वरूप से च्युत हो जाये तो वह चूर्णक कहलाता है। शुक्ति पद का शुक्+ति के रूप में विगृहीत हो जाना इसका निदर्शन है। परन्तु इसका निर्वाह अत्यन्त कुशलता से किया जाना चाहिए। यमकभूमिका पर आरूढ़ होकर भी जो प्रयोग दूषित हो जाये उसे फिर अनुप्रास भी नहीं मानना चाहिए[२], वह काव्यत्व को दूषित ही करता है।

उपमा

अर्थालङ्कारों के ऐतिहासिक विकासक्रम में उपमा, रूपक और दीपक का स्वरूपनिर्धारण सर्वप्रथम हुआ। डा० जयशंकर त्रिपाठी के अनुसार ये तीनों अलङ्कार (कम से कम उपमा और रूपक अवश्य) एक साथ विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित हुए। उपमा दाक्षिणात्य तथा रूपक औदीच्य परम्परा के प्रथम मान्य अलङ्कार हैं। इनमें से प्रथम का आदि संकेत भरत तथा द्वितीय का भामह में मिलता है[३]। दण्डी और वामन भरत का अनुकरण करते हैं।

वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने दो शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त सभी को उपमाप्रपञ्च कहकर इस अलङ्कार की प्राणप्रतिष्ठा की[४]। स्वभावोक्ति,

---

१. शृङ्खलापरिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः। का० सू० वृ० ४/१/४
२. आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम्।
दुष्येच्चेन्न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना।। का० सू० वृ० ४/१/४
३. डा० जयशंकर त्रिपाठी, आचार्य दण्डी एवं संकृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन, पृ० ३०४
४. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। का०सू०वृ० ४/३/१

रसवत् आदि में अलङ्कारत्व न मानने का भी यही कारण था। इन्हीं से प्रभावित होकर रुय्यक ने भी उपमा को अनेक अलङ्कारों का बीज माना[1]। अलङ्कारसर्वस्व के सञ्जीवनी टीकाकार[2] श्री विद्या चक्रवर्ती तथा अप्पय दीक्षित[3] ने अनेक अर्थालङ्कारों को उपमाप्रपञ्च में समाहित किया। वामन की यह स्थापना यथावत् स्वीकृत न होकर भी एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हुई। वामन ने जिस प्रकार उपमा को सर्वालङ्कारजीवातु माना था, भामह ने उसी प्रकार वक्रोक्ति को।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने औपकायन नामक किसी आचार्य को औपम्य का प्रवर्तक कहा है। सम्प्रति उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अलङ्काररूप में इसके शास्त्रीय विवेचन का उपलब्ध प्राचीनतम स्रोत यास्क का निरुक्त है जहाँ गार्ग्य के नाम से उपमा का विवेचन किया गया है[4]। रूपक का विकास पश्चात्कालीन है। कम से कम भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

गार्ग्य के अनुसार अतद् (उपमेय) का तद् (उपमान) के साथ सादृश्य उपमा है[5] उत्तरकालीन समस्त उपमाविवेचन इसी एक सूत्र के विश्लेषण में चरितार्थ हुआ है। भामह के उपमालक्षण[6] में 'विरुद्धेनोपमानेन' पद गार्ग्य के 'तद्' का अनुवाद है, 'देशकालक्रियादिभिः' इसकी व्याख्या। उद्भट ने इस वैशिष्ट्य को यथावद् ग्रहण किया[7]। 'उपमेयस्य' पद 'तद्' का अनुवाद है। सदृश के स्थान पर उसके पर्याय 'साम्य' का

---

१. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता। रुय्यक, अ०स०, पृ०२६

२. अ० स० सञ्जीवनी, पृ० ३९ -४०

३. चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभङ्गिभेदेनानेकालङ्कारभावं भजते। तथा हि ....। एवमुक्तानेकालङ्कारविवर्तवतीयमुपमा।
चि० मी०, पृ० ६०

४. यास्क, नि० अध्याय ३

५. अथातः उपमा। यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। वही

६. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः। का० अ० २/३०

७. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत्।। का० सा० सं० १/३२

प्रयोग है। उद्भट ने उसी अर्थ में 'साधर्म्य' पद का प्रयोग किया है। वस्तुतः साम्य, सादृश्य और साधर्म्य पदों की सूक्ष्म विभाजक रेखा अब तक अस्पष्ट थी। साम्य का विशेषण 'गुणलेशेन' है, अन्यथा किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सर्वात्मना सादृश्य तो असम्भव ही है।[१] भरत ने इसे ही 'गुणाकृतिसमाश्रया' कहा था।[२] यह उपमा का आधार है। वामन के सूत्र पर भामह का तथा वृत्ति पर निरुक्तकार का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता ने अर्थ के अनुरोध से प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृश और किञ्चित्सदृश के नाम से उपमा के पाँच भेद किये हैं।[४] भरत और भामह के अन्तराल में उपमाभेदों की एक बाढ़ सी आ गयी। दण्डी का काव्यादर्श इसका प्रमाण है। जहाँ तीस से अधिक भेद परिगणित किये गये हैं।[५] इनमें से अनेक तो बाद में स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में विकसित हुए। प्रसिद्धिविपर्यासरूप विपर्यासोपमा[६] नव्याचार्यों का प्रतीप[७] बना। अन्योन्योपमा[८] को भामह ने उपमेयोपमा[९] के नाम से वर्णित किया। भामह किसी वैशिष्ट्य के अभाव में इस भेदविस्तार के विरोधी हैं। बहुप्रचलित प्रशंसा, निन्दा और आचिख्यासा भेदों का उनके अनुसार उपमा के सामान्य भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[१०] परन्तु भामह के

१. सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्। -का० अ०, २/४३
२. यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
 उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया।। -ना० शा०, १६/४४
३. उपमानोपमेययोः गुणलेशतः साम्यमुपमा।। -का० सू० वृ०, ४/२/१
४. ना० शा०, १७/५०
५. का० आ०, २/१५-५०
६. सा प्रसिद्धिविपर्यासाद्विपर्यासोपमेष्यते। -वही, २/१७
७. प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्। -कु० आ०
८. तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
 इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी।। -का० आ०, २/१८
९. उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
 उपमेयोपमां नाम ब्रुवते ताम्............।। -का० अ०, ३/३३
१०. यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः। निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते।।
 सामान्यगुणनिर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु। मालोपमादि सर्वोऽपि न ज्यायान्विस्तरो मुधा।।
 -का० अ०, २/३७-३८

इस विरोध के बावजूद भी वामन ने इन्हीं तीन अर्थों में इसकी सीमा निर्धारित की।[१] हाँ, उपमाविवेचन के दो प्रकारों की ओर भामह ने अवश्य सङ्केत किया है। प्रथम, जहाँ यथा, इव आदि सादृश्यवाचक शब्द उपमेय और उपमान के साम्य का प्रतिपादन करते हैं। दूसरे प्रकार में उनके अभाव में यह सादृश्य समास अथवा वति प्रत्यय से निष्पन्न होता है।[२] इसके लिए अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत लुप्तोपमा संज्ञा का व्यवहार नहीं किया गया। वति प्रत्यय से सिद्ध भेद को यास्क ने 'सिद्धोपमा' नाम दिया था।[३]

वामन ने तीन प्रकार से उपमा का वर्गीकरण किया है। भेदविभाग का प्रथम आधार लौकिकी और कल्पिता के अन्तर से है। 'कमल के सदृश मुख' इस उपमा में उपमेय और उपमान दोनों लोकप्रसिद्ध हैं।[४] जब लोक प्रसिद्धि का तिरस्कार कर कवि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के अधिकतर गुणों में साम्य देखता है तो वह कल्पिता उपमा होती है।[५] काव्यादर्श के अनुकरण पर पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति भेद किये गये हैं।[६] इसका आधार एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अथवा एक वाक्यार्थ से दूसरे वाक्यार्थ का साम्य-प्रतिपादन है। उपमेय, उपमान, गुण और द्योतक शब्दों की पूर्ण उपस्थिति से पूर्णा[७] तथा इनमें से किसी के भी लोप में लुप्ता उपमा[८] होती है। यह वर्गीकरण बहुत प्रसिद्ध हुआ।

प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख भामह ने उपमाविवेचन में ही कर दिया था,

---

१. स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु। का० सू० वृ० ४/२/७
२. का० अ०, २/३१-३३
३. वदित्येषा सिद्धोपमा। सिद्धैवैषोपमा लोके। नि०, अध्याय ३
४. यदेवोपमेयमुपमानञ्च लोकप्रसिद्धं तदेव परिगृह्यते, नेतरत्।
न हि यथा मुखं कमलमिव इति तथा कुमुदमिव इत्यपि भवति।
का० सू० वृ०, ४/२/१ वृत्ति
५. गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता। वही, ४/२/२
६. तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात्। वही, ४/२/३
७. गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा। वही, ४/२/५
८. लोपे लुप्ता। वही, ४/२/६

वामन ने इसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना तथा उपमामूलक अलङ्कारों में मुख्य स्थान प्रदान किया। मालोपमा भामह के अनुसार उपमा में ही अन्तर्भूत हो जाता है[1], वामन इस विषय में मौन हैं।

प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख भामह ने उपमाविवेचन के प्रसङ्ग में किया है परन्तु स्पष्ट रूप से इसे उपमा का भेद नहीं कह सके, जैसा कि दण्डी ने कहा[2]। स्पष्टतः, इस सौन्दर्य की कल्पना उस समय तक अवश्य हो चुकी थी परन्तु इसे उपमाभेद माना जाये अथवा स्वतन्त्र अलङ्कार, यह निर्णय नहीं हो सका था। उद्भट और इनके लगभग समसामयिक वामन तक इसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना कर ली गयी। वामन ने इसे उपमा अलङ्कारों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। बाद में कुन्तक ने इसका विरोध भी किया[3] पर वह आचार्यों को ग्राह्य नहीं हो सका। उत्तरवर्ती परम्परा में वामन की स्थापना का प्रायः स्वागत ही हुआ।

भामह ने समान वस्तुओं के न्यास को प्रतिवस्तूपमा कहा था। न्यस्त वस्तुओं में साम्यप्रतीति उनके गुणों की समानता के आधार पर होती है। वाक्ययोजक यथा, इव आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता।[4] वामन के अनुसार वाक्यार्थोपमा और प्रतिवस्तूपमा का भेदक आधार भी यही है कि यहाँ दो स्वतन्त्र निरपेक्ष वाक्य गुणों के आधार पर उपमेयोपमानभाव से युक्त हो जाते हैं जबकि वाक्यार्थोपमा में एक ही वाक्य होता है।[5] वामन का लक्षण भामहानुसारी ही है।[6] स्वरूप की दृष्टि से इस पर आचार्यों में प्रायः मतभेद नहीं मिलता।

---

१. मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान्विस्तरो मुधा। का० अ०, २/३८

२. का० आ०, २/४६

३. समानवस्तुन्यासोपनिबन्धना प्रतिवस्तूपमापि न पृथग्वक्तव्यतामर्हति, पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात्। व० जी०, ३ उन्मेष, पृ० ३७६

४. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः।। का० अ०, २/३४

५. अत्र द्वौ वाक्यार्थौ। एको वाक्यार्थोपमायामिति भेदः।
का० सू० वृ०, ४/३/२ की वृत्ति।

६. उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु। का० सू० वृ०, ४/३/२

रूपक

उपमेय और उपमान का साम्य मात्र उपमा है, यही साम्य जब अभेद की स्थिति तक पहुँच जाये तो उसे रूपक कहते हैं।[१] भामह के समय तक रूपक के स्वरूपाधान के सम्बन्ध में दो तत्त्व स्पष्ट रूप से उभर कर आ चुके थे–उपमेयोपमान के गुणों की समता और उनकी अभेदरूपता।[२] भरत के रूपकविवेचन में इन दोनों तत्त्वों की ओर सङ्केत है।[३] वामन ने अभेदरूपता को आरोप शब्द से अभिव्यक्त किया[४] जो उत्तरकाल में अधिक समादृत हुआ। इससे पूर्व अपह्नुति की व्याख्या के सन्दर्भ में वे रूपक के इस शाब्दताद्रूप्य को पदार्थनिष्ठ मान चुके थे, वाक्यार्थनिष्ठ ताद्रूप्य अपह्नुति का विषय है।[५] लौकिकी और कल्पिता दोनों प्रकार की उपमायें रूपक का आधार बनती हैं।[६]

इसी प्रसङ्ग में वामन ने समास में रूपक मानने का निषेध किया है। उनके अनुसार 'मुखचन्द्रः' इत्यादि स्थलों में समास होने के कारण चन्द्रादि में रूपकत्व युक्त नहीं है।[७] परन्तु का० सू० वृ० के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल भी उनकी इस टिप्पणी से सहमत नहीं हो सके। मतान्तरानुरोध से यहाँ उपमा और रूपक दोनों की सम्भावना व्यक्त की गयी है।[८] समास यदि "मयूरव्यंसकादयश्च" सूत्र से हो तो वहाँ रूपक माना जा सकता है।

---

१. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। का० अ०, २/३६

२. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।। का० अ०, २/२१

३. ना०शा०, १६/५७-५८

४. उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्। का० सू० वृ०, ४/३/६

५. अपह्नुतौ वाक्यार्थयोरार्थिकं ताद्रूप्यम्। रूपके तु पदार्थयोः शाब्दं ताद्रूप्यमिति शेषः। वही, ४/३/५ का० धे०

६. उपमानोपमेययोरुभयोरपि ग्रहणं लौकिक्याः कल्पितायाश्चोपमायाः प्रकृतित्वं यथा विज्ञायेतेति। वही, ४/३/६ वृत्ति।

७. मुखचन्द्रादीनां तूपमा। समासान्न चन्द्रादीनां रूपकत्वं युक्तमिति।
का० सू० वृ०, ४/३/६ वृत्ति

८. मतान्तरानुरोधेन मुखचन्द्रादिषु क्वचिदुपमा, क्वचिद्रूपकमिति द्वैरूप्यं सम्भवति।
वही, का०धे०

भामह ने समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्त्ति, इस प्रकार रूपक के दो भेद किये हैं।[१] नामतः ही स्पष्ट होने के कारण लक्षणों का उपादान नहीं है, केवल उदाहरण दिये गये हैं। उद्भट ने इन्हें यथावत् ग्रहण किया। उनके अनुसार यदि समस्त उपमान श्रौत हों तो समस्तवस्तुविषय तथा कुछ उपमानों के अर्थाक्षिप्त होने पर एकदेशविवर्त्ति रूपक होता है।[२] मालारूपक उनके अनुसार प्रथम भेद में ही गतार्थ हो जाता है।[३] दण्डी ने उपमाचक्र के समान रूपकचक्र का भी विस्तार से वर्णन किया। काव्यादर्श में इसके उन्नीस भेद गिनाये गये हैं, शेष अनुमान पर छोड़ दिये गये।[४] परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा इन्हें मान्यता नहीं मिली। वामन ने भरत के अनुसार ही इसके भेदों की ओर कोई सङ्केत नहीं किया।

दीपक

भरत ने किसी एक धर्म के द्वारा नानाधिकरणार्थों के एकवाक्येन संयोग को दीपक कहा था।[५] वामन के अनुसार यह धर्म क्रियारूप ही हो सकता है। उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही क्रिया जब अनुषङ्गतः सम्बध्यमान होती है तो उस सौन्दर्य का नाम दीपक है।[६] भामह ने इसका कोई लक्षण नहीं किया। "अर्थसौन्दर्य को उद्दीप्त करने के कारण यह सौन्दर्यविधा अन्वर्थनामा है"[७], इस स्तुतिवाक्य को लक्षण नहीं कहा जा सकता। हाँ, आदि, मध्य और अन्तदीपक के उदाहरणों से स्पष्ट है कि

---

१. समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टम्.................।। का०अ० २/२२

२. बन्धस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत्।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।। का० सा० सं०, कारिका १२

३. समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते। - वही, १३

४. न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्।। का० आ०, २/९६

५. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रकीर्त्तितम्।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमिष्यते।। ना०शा०, १६/६०

६. उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्। का० सू० वृ०, ४/३/१८

७. अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्। का० अ०, २/२६

काव्यालङ्कार के लेखक ने भी इस एकवाक्येन संयोग को क्रिया रूप में ही देखा था। रुद्रट ने क्रिया के साथ-साथ कारक की भी कल्पना[१] की, फलतः इसके एक अन्य भेद कारकदीपक का जन्म हुआ।

भामह के अनुकरण पर[२] वामन ने आदि, मध्य और अन्त रूप से दीपक के तीन ही भेद स्वीकार किये।[३] दण्डी ने भेदविस्तार की जो परम्परा प्रारम्भ की थी, वामन उससे अप्रभावित रहे!

भरत द्वारा विवेचित चार अलङ्कारों में से केवल दीपक ही है जो विकास की अन्तिम स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते विवाद का विषय बन गया। तुल्योगिता में इसका अन्तर्भाव करने का प्रयास पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। ये प्रकृत, अप्रकृत तथा प्रकृत-अप्रकृत दोनों के धर्मों के सकृत् ग्रहण के आधार पर तुल्ययोगिता के तीन भेदों में से दीपक को अन्तिम मानते हैं।[४] वर्तमान आलोचकों में डा० रामचन्द्र द्विवेदी भी इनमें से अन्यतर को ही अलङ्कार मानने के पक्ष में हैं।[५] परन्तु काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह के विवृति टीकाकार राजानक तिलक ने इनके भेदविभाग की जो व्यवस्था दी थी[६], परवर्ती काल में उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व के स्वीकृत हो जाने पर उसे सम्मान दिया गया। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इन्हें भिन्न ही माना परन्तु इनके विवेचन पर रुद्रट का प्रभाव है।

---

१. यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा।। का० अ० (रु०), ७/६४

२. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा।। का० अ० २/२५

३. तत्त्रैविध्यमादिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात्। का० सू० वृ०, ४/३/१९

४. तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेः अविशेषात्। र० गं०, द्वितीय आनन, सं० संस्कृत वि० वि० प्रकाशिते रसचन्द्रिकायुते रसगंगाधरे, द्वितीयो भाग, पृ० ३५८

५. रामचन्द्र द्विवेदी, अलङ्कार मीमांसा, पृ० ३२२

६. तुल्ययोगितानभिधानार्थमेतस्योपात्तत्वात्।
तत्र हि सर्वाणि प्राकरणिकान्येवाप्राकरणिकान्येव वा।
-का० सा० सं०, १/२८ पर विवृत्ति।

आक्षेप

आक्षेप अलङ्कार का प्रथम विवेचन भामहकृत काव्यालङ्कार में ही उपलब्ध होता है। कथ्यमान के निषेध से अभिव्यक्ति जब और सशक्त हो जाये तो आक्षेप अलङ्कार होता है। विशिष्टार्थ की अभिधित्सा इस सौन्दर्यविधा का प्राण है और आक्षेप अथवा प्रतिषेध इसका कारण। दण्डी के कथन में भी निषेधोक्ति की स्वीकृति है[2] परन्तु भामह के "विशेषाभिधित्सा" का सम्मान नहीं हो पाया।

वामन आक्षेपलक्षण में दण्डी के अनुकर्त्ता हैं परन्तु उनके सभी अलङ्कारों में उपमामूलकता का आग्रह है अतः उन्होंने इसमें "उपमान" शब्द और जोड़ दिया।[3] तुल्य कार्य (उपमान) के नैरर्थ्य की विवक्षा में उसका प्रतिषेध[4] तथा आक्षेप से उपमान की प्रतिपत्ति[5], ये दोनों रूप वामन के एक ही सूत्र की व्याख्या से प्राप्य हैं। प्रथम रूप के उदाहरण में सौम्य सुभग मुख आदि की उपस्थिति में पार्वण इन्दु आदि उपमानों का प्रतिषेध है।[6] द्वितीय उदाहरण में शरदादि प्रस्तुतों के आक्षेप से वैश्यादि अप्रस्तुतों की प्रतीति होती है।[7]

भामह ने वक्ष्यमाण तथा उक्त विषय के आधार पर उसके दो भेद किये थे।[8] दण्डी ने त्रिकाल की अपेक्षा से वर्तमानाक्षेप का भी उल्लेख

१. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति..............।। का० अ०, २/६८
२. प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः। का० आ०, २/२०
३. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः। का० सू० वृ०, ४/३/२७
४. उपमानस्य क्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थ्यविवक्षायाम्। वही, वृत्ति।
५. उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः। वही।
६. तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना।
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे।
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः।। का० सू० वृ०, ४/३/२७
७. ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षतायाम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।। वही।
८. वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राक्षेपो द्विधा मतः। का० अ०, २/६७

किया। उपमेयोपमान के गुणों के अनुसार इसके अनन्त उपभेदों की भी सम्भावना की जा सकती है[1], परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनन्त विस्तार की कल्पना को स्वीकार नहीं किया। मम्मटकृत लक्षण और वर्गीकरण दोनों ही पर भामह का प्रभाव है। वामन ने इसके भेदों का उल्लेख नहीं किया।

अर्थान्तरन्यास

कथित अर्थ के अतिरिक्त तदनुगत अर्थान्तर का उपन्यास अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।[2] भामह का यह लक्षण साधारण और स्पष्ट है। परस्पर सम्बद्ध दो वाक्यों में सामान्य अथवा विशेष भाव का कोई सङ्केत नहीं जो मम्मट के लक्षण में है।[3] अ० स० के लेखक आचार्य रुय्यक ने इसके साथ ही कार्यकारणभाव का भी उल्लेख किया।[4] इन्हीं आधारों पर इस अलङ्कार का भेदविभाग भी किया गया।[5]

दण्डी[6] और वामन[7] का विवेचन भामह से प्रभावित है। वामन की विशेषता इसके स्वरूप को न्याय से पृथक् दिखलाने में है। वृत्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ अनुमान के हेतु की व्याप्ति स्पष्ट हो वहाँ यह सौन्दर्य नहीं होता। व्याप्ति के गूढ होने के कारण इस अलङ्कार में

---

१. प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता।। का० आ०, २/१२०

२. उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा।। का० अ०, २/७१

३. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।। का० प्र०, १०/१०९

४. सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।
अ० स०, पृ० १३९

५. सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः। सा० द०, १०/६२

६. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः।। का० आ०, २/१६९

७. उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरन्यासस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। का० सू० वृ०, ४/३/२१

हेतुत्व की प्रतीति कथञ्चित् ही हो पाती है।[१] भामह के अनुसार यह हेत्वर्थ की प्रतीति 'हि' शब्द के प्रयोग से भी सुतरां व्यक्त होती है।[२]

व्यतिरेक

अप्रस्तुत की अतिरञ्जना काव्य में प्रस्तुत की अभिव्यक्ति को संवेद्य एवं प्रत्येय बनाती है परन्तु प्रस्तुत का अप्रस्तुत से उत्कर्षाधिक्य इस विधि को और भी अधिक प्रबल और संवेगी बना देता है। भामह के अनुसार सौन्दर्य की यह विधा ही व्यतिरेक है।[३] उपमेय के वैशिष्ट्य का निदर्शन ही इसका उद्देश्य और आधार है। अप्रस्तुत पुण्डरीक एकान्तशुभ्र और नीलकमल एकान्तश्याम है परन्तु प्रस्तुत नायिका के नेत्रों में शुभ्रता और श्यामता दोनों हैं।[४] इस उदाहरण में उपमेय नायिका के नेत्रों का उत्कर्ष व्यंग्य है। वामन ने भामह के लक्षण को ही सूत्रायित किया है।[५] एक बात का० सू० वृ० में विशेष कही गयी है। किसी अज्ञात आचार्य के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि यह चमत्कार शब्दोपात्त अथवा गम्यमान भी हो सकता है।[६]

भामह और वामन तक व्यतिरेक का सौन्दर्य केवल उपमेय के विशेष निदर्शन तक सीमित था। रुद्रट[७] तथा रुय्यक[८] ने इसे उपमानाधिक्यवर्णन के रूप में भी देखा।

---

१. यत्र हेतुर्व्याप्तिगूढ़त्वात्कथञ्चित्प्रतीयते तत्र यथा स्यात्।
यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यमित्येवंप्रायेषु मा भूत्। वही, ४/३/२१ वृत्ति।

२. हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते......................।। का० अ०, २/७३

३. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा।। का० अ०, २/७५

४. सितासिते पक्ष्मवती नेत्रे ते ताम्रराजिनी।
एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले।। वही, २/७६

५. उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। का० सू० वृ०, ४/३/२२

६. कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः। वही, वृत्ति।

७. (क) यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने। का० अ०(रु०) ७/८६
(ख) यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये। वही, ७/८९

८. भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः। रुय्यक, अ० स०, सूत्र २८

विभावना

क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति विभावना है। इस फलोत्पत्ति का समाधान दुर्लभ नहीं होना चाहिए[१] परन्तु वह उक्त अथवा अनुक्त हो सकता है। बाद में इसी आधार पर विभावना के भेद किये गये।[२] वामन के अनुसार क्रिया का निषेध होने पर भी उसके फल की उत्पत्ति विभावना है।[३] इस लक्षण में भामह की समाधिसुलभता (समाधान) की बात नहीं आ पायी परन्तु उदाहरण[४] में इसका ध्यान अवश्य रखा गया है।

समासोक्ति

किसी एक वस्तु के कथन से उसी के समान विशेषणों से युक्त अन्य पदार्थ की व्यञ्जना समासोक्ति है।[५] आगे चलकर साहित्यदर्पणकार ने विशेषण साम्य में कार्य और लिङ्ग की समानता को भी जोड़ दिया।[६] उदाहरण में एक वृक्ष का वर्णन[७] किसी महापुरुष के पतन का प्रत्यायक है।

वामन के लक्षण में भामह का प्रभाव और उपमाप्रपञ्च का आग्रह दोनों हैं। उपमेय के अनुक्त रहने पर तत्समान वस्तु (उपमान) का विन्यास समासोक्ति है।[८] संक्षिप्तता के कारण यह संज्ञा अन्वर्थिका है।[९] संक्षेप पद से यहाँ अभिप्राय उपमेय के अनुक्त रहने से ही है।

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति।। का० अ०, २/७७

२. उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता।। सा० द०, १०/६६

३. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना। का० सू० वृ०, ४/३/१३

४. अप्यसज्जनसाङ्गत्ये न वसत्येव वैकृतम्।
अक्षालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम्।। वही, वृत्ति।

५. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा।। का० अ०, २/७९

६. समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।। सा० द०, १०/५६

७. स्कन्धवानृजुर्व्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः।
जातस्तरुरयं चोच्चैः पातितश्च नभस्वता।। का० अ०, २/८०

८. अनुक्तौ समासोक्तिः। का० सू० वृ०, ४/३/३

९. (क) .... संक्षिप्तार्थतया यथा।। का० अ०, २/७९
(ख) संक्षेपवचनात्समासोक्तिरित्याख्याता।।का० सू० वृ०, ४/३/३ वृत्ति।

अतिशयोक्ति–वक्रोक्ति

अभिनवभारती के लेखक ने भरत के 'अतिशय' नामक लक्षण से अतिशयोक्ति अलङ्कार के उद्भव की सम्भावना व्यक्त की थी।[१] भामह ने भी गुणातिशययोग को इस अलङ्कार का आधार माना।[२] इसे ही सहृदय-संवेद्य बनाने के लिए कवि द्वारा वर्णित अत्यन्त रञ्जित लोकातिक्रान्त-गोचर कथन अतिशयोक्ति है।[३] वामन के लक्षण पर भामह का प्रभाव स्पष्ट है! वे सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को अतिशयोक्ति कहते हैं।[४] इस सङ्कल्पना में गुणातिशयत्व और लोकातिक्रान्तता दोनों समाविष्ट हो जाते हैं। उद्भट ने भी भामह के ही शब्दों में अतिलौकिकता को इस चमत्कार का आधायक कहा था।[५] मम्मट और रुय्यक की परम्परा में विश्वनाथ तक इसका स्वरूप अध्यवसाय (उपमान से पृथक् उपमेय का निर्देश न करने) की सिद्धि में रूढ़ हो गया।[६]

दण्डी ने न केवल इसे उत्तम अलङ्कार[७] प्रत्युत अन्य अनेक अलङ्कारों का परायण भी कहा[८]। रुद्रट ने अलङ्कारों के वर्गीकरण में कुछ को अतिशयमूलक वर्ग में रखा।[९] भामह सभी को वक्रोक्तिमूलक मानते थे परन्तु उनकी वक्रोक्ति को इस अतिशयोक्ति के समानान्तर नहीं रखा जा सकता। द्वितीय परिच्छेद की "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" इत्यादि कारिका से

---

१. लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथा ही .... अतिशयनाम्नातिशयोक्तिः ....। ना० शा०, अ० भा०, पृ० ३२।

२. इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः। का० अ०, २/८४

३. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा।। वही, २/८१

४. सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः। का० सू० वृ०, ४/३/१०

५. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया बुधाः।।
का० सा० सं०, वर्ग २, कारिका, २/११

६. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। सा० द०, १०/४६

७. असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा। का० आ०, २/२१४

८. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमाहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।। वही, २/२२०

९. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशयः श्लेषः। का० अ० (रु०), ७/९

पूर्व अतिशयोक्ति के भेदविभाग की विविध सम्भावनाओं के साथ ही इसका विवेचन समाप्त हो चुका है। इस कारिका का अवतरण सम्पूर्ण विवेचन को आगे बढ़ाते हुए हेतु आदि के खण्डन के प्रसङ्ग में हुआ। वैसे भी भामह ने अन्य अनेक स्थलों पर भी अर्थ की विभावयित्री, भणितिवैचित्र्यरूपा वक्रोक्ति का स्तवन किया है[१] परन्तु कहीं भी इस प्रसङ्ग में अतिशयोक्ति नाम नहीं आया। दूसरे, भामहीय वक्रोक्ति का स्वरूप गुणातिशययोग न होकर व्यञ्जनावैचित्र्य ही है। और फिर अतिशयोक्ति भामह के अनुसार एक अलङ्कारविशेष है, वक्रोक्ति अलङ्कारत्व का बीजभूत।[२] वामन ने इन दोनों का विवेचन अलग-अलग ही किया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम वक्रोक्ति का निरूपण एक अलङ्कारविशेष के रूप में किया। अन्ततः उनकी यह स्थापना समादृत हुई परन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में जो मत इन्होंने प्रस्तुत किया वह कभी भी ग्राह्य नहीं हो सका। अभिधेयार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की उपलब्धि में वक्रता रहती है, अतः यह लाक्षणिक विवेचन ही वक्रोक्ति है। लक्षण में सादृश्य विशेषण का प्रयोग[३] उपमा के आग्रह से हुआ है, यह भी उपमा का एक प्रपञ्च ही है। इसके बाद रुद्रट ने इसे शब्दालङ्कार बना दिया।[४] मम्मट[५] और विश्वनाथ[६] आदि में यह मान्य हुआ।

गुणातिशय के आधार पर अतिशयोक्ति के विविध विकल्पों की सम्भावना भामह ने अवश्य की थी।[७] इसी से प्रेरणा लेकर उद्भट ने इसके

---

१ (क) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। का० अ०, १/३६
(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।। वही, ५/६६

२ सर्वालङ्कारबीजमेषेति भावः। अयं हि भामहाशयः। का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७४४

३. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। का० सू० वृ०, ४/३/८

४. का० अ० (रु०), २/१३-१७

५. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।। का० प्र०, ९/७८

६. अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।। सा० द०, १०/९

७ इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्।। का० अ० २/८४

चार भेद भी किये।[1] वामन ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। वक्रोक्ति के भेदों की कल्पना भी रुद्रट से प्रारम्भ हुई। उन्होंने इसके काकु और सभङ्गश्लेष दो भेद किये थे।[2] सूत्रवृत्तिकार इस पर मौन हैं।

हेतु, सूक्ष्म, लेश

हेतु, सूक्ष्म और लेश स्वरूप की दृष्टि से स्वतन्त्र अलङ्कार हैं तथापि प्रारम्भ से ही स्वीकृति अथवा निषेध के प्रश्न पर इनका प्रतिपादन साथ साथ ही किया जाता रहा है। भामह से पूर्व ही काव्यशास्त्र के आचार्यों में इनकी स्वीकृति पर विवाद रहा है। काव्यालङ्कार के लेखक ने इनमें अलङ्कारत्व का निषेध किया। तर्क है–वक्रोक्ति का अनभिधान।[3] इसके बिल्कुल विपरीत दण्डी इन्हें वाणी का उत्तम आभूषण कहते हैं।[4] "सूर्य अस्त हो गया, चन्द्र भासमान है, पक्षी अपने निवास पर जा रहे हैं", भामह के अनुसार यह कथन वार्ता हो सकता है, काव्य नहीं।[5] इसी पृष्ठभूमि में दण्डी का यह उत्तर अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि काल अथवा अवस्था के अनुरोध से यही वाक्य उत्तम काव्य का उदाहरण भी हो सकता है।[6] अस्तु, यह विरोध मान्यता का है। भामह का वक्रोक्ति के प्रति आग्रह और दण्डी का प्रस्थानभेद।

वामन ने भी इस त्रिवर्ग का उल्लेख नहीं किया। उनका आग्रह भी स्पष्ट था। जो उपमाप्रपञ्च में समाहित न हो सके उसे वे अलङ्कार ही नहीं मानते। उद्भट ने भी इनकी चर्चा नहीं की। कुन्तक ने इनका विरोध भामह के अनुकरण पर किया।[7] वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के

---

१. भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धातिशयोक्तिगीः।। का० सा० स०, २/१२

२. का० अ० (रु०), २/१४-१७

३. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।। का० अ०, २/८६

४. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणौ। का० आ०, २/२३५

५. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तमेनां प्रचक्षते।। का० आ०, २/८७

६. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने।। का० आ० २/२४४

७. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।। व० जी०, ३/१७८

पूर्वार्ध में आचार्यों का बहुमत इनमें अलङ्कारत्व न मानने के पक्ष में था, उत्तरार्ध में इन्हें क्रमशः स्वीकृति मिलती रही।

यथासंख्य

विभिन्नधर्मा अर्थों के क्रमशः अनुनिर्देश से जब लालित्य की सृष्टि होती है तो उसे यथासंख्य अलङ्कार कहा जाता है।[१] भामह के पूर्ववर्ती मेधावी ने इसके लिए संख्यान शब्द का प्रयोग किया।[२] क्रमवत्ता का महत्त्व होने के कारण ही कदाचित् दण्डी ने इसके नामों में "क्रम" को भी जोड़ दिया।[३] वामन ने इसी नाम को अपनाया।

भामह का आग्रह क्रमशः निर्दिश्यमान अर्थों में विभिन्नधर्मता के प्रतिपादन में है। दण्डी ने इस विशेषण का सम्मान नहीं किया। वामन इनमें उपमानोपमेय सम्बन्ध अनिवार्य मानते हैं।[४] उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस विशेषण को स्वीकार नहीं किया। भामह के असमानधर्मित्व का उल्लेख भी उद्भट के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। मम्मट[५] और विश्वनाथ[६] के लक्षणों पर दण्डी[७] का प्रभाव है।

रुय्यक ने शाब्द और आर्थ[८] तथा जयदेव ने कारक और क्रिया के रूप में[९] इसके दो-दो भेद गिनाये। इससे पूर्व इसके भेदों की ओर कोई सङ्केत नहीं मिलता। कुछ नव्याचार्य इसे क्रमभङ्ग दोष के अभाव के रूप में भी देखते रहे जबकि जगन्नाथ ने इसका निरूपण अलङ्कार के रूप में ही किया है।[१०]

---

१. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते।। का० अ०, २/८९
२. ....संख्यानमिति मेधावी............। वही, २/८८
३. यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। का० आ०, २/२७३
४. उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः। का० सू० वृ०, ४/३/१७
५. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः। का० प्र०, १०/१०८
६. यथासंख्यमनूद्देशः उद्दिष्टानां क्रमेण यत्। सा० द०, १०/७९
७. उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्। का० आ०, २/२७३
८. तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा। अ० स०, पृ० १४९
९. जयदेव, च० आ०, ५/९२
१०. उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्। र० ग०, द्वितीय भाग, पृ० ७०५

उत्प्रेक्षा

सौन्दर्य की एक विधा के रूप में भामह से पूर्व ही उत्प्रेक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया था। आधुनिक काल तक भी प्रायः सभी आचार्य एकमत होकर इसमें अलङ्कारत्व स्वीकार करते रहे हैं परन्तु अलङ्कारशास्त्र के इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था में इसके स्वरूपविचार में वैज्ञानिकता का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। एक लम्बे समय तक विविध शब्दों में इसके स्पष्टीकरण के व्यापक प्रयास किये जाते रहे। भामह का उत्प्रेक्षाविवेचन संक्षिप्त लक्षण न होकर इसके स्वरूप का विशद विश्लेषण है। इसमें उपमानोपमेय के सामान्य गुणों का कथन न होते हुए भी औपम्य का किञ्चित् स्पर्श रहता है। अतिशय के आधान के निमित्त असिद्ध गुण, क्रिया आदि की भी संभावना कर ली जाती है।[१] रुद्रट ने इसी व्याख्यान को दृष्टि में रखकर इसे औपम्यगर्भ और अतिशयगर्भ दोनों वर्गों में स्थान दिया। उत्तरवर्ती आचार्यों के लक्षणों में औपम्यगर्भता का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अतत् की तद्रूप में सम्भावना इसके स्वरूप की नियामिका बनी रही ।[२] इसका आधार अतिशयत्व ही था जिसे वामन ने भ्रन्तिज्ञाननिवृत्ति[३] तथा विवृतिकार तिलक ने उत्कर्ष रूप में देखा।[४]

वामन का सूत्रात्मक लक्षण इस दृष्टि से अधिक समर्थ है। वे उपमेय के उत्कर्ष के निमित्त अतद्रूप के तत्स्वभावतया अध्यवसाय को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[५] इसके मूल में सादृश्य का भाव इन्होंने भी माना है।[६] अध्यवसान का अभिप्राय प्रयासविशेष है जो अध्यारोप अथवा लक्षणा का निषेधक है।[७] इवादि शब्द इसके द्योतक हैं।[८] इनका परिगणन दण्डी ने एक सम्पूर्ण कारिका में किया है।[९]

---

१. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।। का० अ०, २/९१
२. भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। सा० द०, १०/४०
३. अतिशयार्थमिति- भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। का० सू० वृ०, ४/३/९ वृत्ति।
४. अतिशयेनि। उत्कर्षपर्यवसायिनीत्यर्थः। का० सा० सं०, विवृत्ति।
५. अतद्रूपस्यान्यथाऽध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा। का० सू० वृ०, ४/३/९
६. सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति। वही, वृत्ति।
७. अध्यवसानमध्यवसायः। न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा। वही।
८. एनां चेवादिशब्दा द्योतयन्ति। वही।
९. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः।। का० आ०, २/२३४

भामह और वामन दोनों ही आचार्य इसके भेदों के विषय में मौन हैं जबकि दण्डी से ही इनका विवेचन प्रारम्भ हो गया था, विश्वनाथ में यह संख्या १७६ तक पहुँच गयी।

स्वभावोक्ति

प्रवृत्ति और प्रयोग की दृष्टि से सम्पूर्ण वाङ्मय वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में विभक्त है। वक्रोक्ति में अलङ्कारत्व का प्राण निहित है तो स्वभावोक्ति सौन्दर्य की वह विधा है जो अलङ्कारशून्य होकर भी चमत्कृति का आधान करती है। चारुत्व का हेतु होने के कारण कुछ लोग वस्तुस्वभाव के स्फुट आख्यान को भी अलङ्कार ही मानते हैं।[१] उनकी सरणि में स्वभाव का अभिप्राय है-वस्तु का तदवस्थात्व।[२] इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं। सत्य तो यह है कि स्वभावोक्ति में भी वक्रतावैचित्र्य का किञ्चित् योग अवश्य रहता है, यद्यपि वह अस्फुट होता है। अन्यथा तो नितान्त चारुत्वहीन वाक्य को वार्ता ही कहा जाता है जो हेतु आदि के समान ही अलङ्कारत्व का, अथ च काव्यत्व का अधिकारी नहीं है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलङ्कृति की एक विधा के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु भामह वक्रोक्ति की तुलना में इसे अपेक्षित महत्त्व नहीं दे पाये, दण्डी ने इस कमी को पूरा किया[३] परन्तु वे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को नितान्त भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार उक्तिरूप समस्त वाङ्मय को इन दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है।[४] वामन ने उपमाप्रपञ्च से असम्बद्ध होने के कारण अलङ्कारों में इसका परिगणन नहीं किया परन्तु वस्तुस्वभावस्फुटतारूप अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण में स्थान देकर इसके महत्त्व को अक्षुण्ण रखा।[५]

---

१. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते। का० अ०, २/४३
२. अर्थस्य तदवस्थात्वं स्वभावोऽभिहितो यथा। वही
३. (क) स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा। का० आ०, २/८
(ख) शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदिष्यते। वही, २/१३
४. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। वही २/३६५
५. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। का० सू० वृ०, ३/२/१४

कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार्य और वक्रोक्ति को अलङ्कृति मानकर जब इसके अलङ्कारत्व पर प्रश्नचिह्न लगाया[१] तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ आदि ने इसके स्वरूप को वैज्ञानिकता प्रदान की। रुय्यक ने इस वस्तुस्वभाव के लिए सूक्ष्म विशेषण का प्रयोग किया[२] जो साहित्यदर्पण में 'दुरूह' बन गया।[३] अब तक यह विचार अलङ्कार के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था तथा साहित्यसुधा सिन्धु[४] और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन[५] में इसके भेदों की कल्पना भी की जाने लगी थी। इसके साथ ही भामह का वास्तविक अभिप्राय अब लुप्त सा हो गया। वामन की व्यवस्था का भी आदर नहीं हो सका।

रसवत्–प्रेय–ऊर्जस्वि–समाहित

रस नाट्य का प्रधानभूत अंग था जिसका सम्बन्ध अभिनय से है। काव्यचर्चा जब नाट्य से पृथक् हुई उस समय रस का स्थान अलङ्कार ने ले लिया परन्तु श्रव्य सर्गबन्ध की विधा में भी रस तत्त्व का सर्वथा अपलाप नहीं हो सका।भामह महाकाव्य के स्वरूप में समस्त रसों की स्थिति को अनिवार्य मानते हैं।[६] काव्यालोचन के इतिहास में इस तथ्य की प्रथम स्वीकृति रसवद् अलङ्कार है। उद्भट ने रसविवेचन के समस्त सन्दर्भों को रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि और समाहित इन चार अलङ्कारों में स्थिर कर दिया। जयदेव ने भी इसी अनुकरण पर इन चारों का वर्णन एक साथ किया।[७] भामह स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं कह पाये थे। उन्होंने केवल रसवत् अलङ्कार का लक्षण किया है जहाँ शृङ्गारादि रस स्पष्ट रूप से उभर आये हों।[८]

---

१. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।। व० जी०, १/४

२. सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। अ० स०, पृ० १७७

३. स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। सा० द०, १०/९३

४. सा च क्रियावर्णसंस्थानावस्थाभेदाच्चतुर्धा। सा० सु० सि०, ८/२४२ वृत्ति।

५. स च संस्थानस्थानकव्यापारादिस्तस्य वर्णनं जातिः। का० अनु०, ६/१५

६. ....रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ०, १/२१

७. रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमथाभिधाः।। च० आ०, ५/११७

८. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा। का० अ०, ३/६

उदाहरण के रूप में उस समय की प्रसिद्ध किसी काव्यकथा की ओर सङ्केत है।[१] दण्डी ने आठ रसों के पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये।[२] उद्भट ने भामह के लक्षण को ही यथावद् ग्रहण किया।[३]

उद्भट की इस मान्यता के विरुद्ध ध्वनिवाद की स्थापना के साथ ही इन चारों अलङ्कारों को रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि की गुणीभूत स्थिति के आधार पर स्वीकार किया गया जब काव्य में तद्व्यतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की प्रधानता हो और रसादि गौण होकर उसका उपकार करें।[४] कुन्तक जब काव्यालोचक के रूप में अवतरित हुए उस समय ध्वनि की स्थापना हो चुकी थी। उद्भट और आनन्दवर्धन दोनों का खण्डन कर उन्होंने यह स्थापना की कि कोई अलङ्कार प्रधानत्वेन ध्वनित हो सकता है, एवं च रसवत् बन सकता है।[५] इस नाम से किसी विशिष्ट अलङ्कार की कल्पना उन्हें अस्वीकार्य थी परन्तु उनका यह सिद्धान्त भी समादृत नहीं हुआ।

काव्यालङ्कार में प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित के केवल उदाहरण दिये गये हैं। प्रेयः का उदाहरण विदुर की कृष्ण के प्रति कही गयी उक्ति है– "हे गोविन्द! आज आपके घर आने पर मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह पुनः आप ही के आने पर हो।"[६] दण्डी ने इसी उदाहरण के साक्ष्य पर इसका स्वरूप प्रियतराख्यानरूप बताया है।[७] यह प्रीति का भाव ही उद्भट में विस्तार को प्राप्त कर भावमात्र का वाचक हो गया।[८]

---

१. देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता। वही।
२. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। का० आ०, २/२९२
३. का० सा० सं०, ४/३
४. रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावे रसवदलङ्कारविषयः। ध्व० आ०
५. रसेन वर्त्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलङ्कारः स रसवद् तद्विदाह्लादनिर्मितिः।। व० जी०, ३/१५
६. अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।। - का० अ०, ३/५
७. प्रेयः प्रियतराख्यानम्। का० अ०, २/२७५
८. रत्यादिकानां भावानाम्नुभावादिसूचनैः। का० सा० सं०, ४/२

उर्जस्वि का भामहकृत उदाहरण ऊर्जा (अथवा स्वाभिमान) की चामत्कारिक अभिव्यक्ति से युक्त है।[१] इस अलङ्कार का लक्षण दण्डी ने भी नहीं किया। उद्भट के अनुसार इसका सम्बन्ध रसाभास तथा भावाभास से है। काम अथवा क्रोधादि से आविष्ट होकर औचित्यप्रवृत्त भावों और रसों का निबन्धन ऊर्जस्वि है।[२] यह लक्षण भामह के उदाहरण पर भी घटित होता है।

"परशुराम को प्रसन्न करने के लिए जाती हुई क्षत्रिय स्त्रियों को सामने ही नारद दृष्टिगत हुए"[३] भामह के इस समाहित के उदाहरण को दण्डी ने चमत्कारपूर्ण आकस्मिक दैवयोग के रूप में देखा है।[४] उनका अपना उदाहरण भी इसी प्रकार का है।[५] उद्भट इसे ही आतङ्क भाव की शान्ति मानते हैं। उनके अनुसार इस अलङ्कार का सम्बन्ध रस, भाव, तदाभास के प्रशम से है।[६]

रुद्रट और मम्मट ने इन अलङ्कारों का उल्लेख नहीं किया। वामन ने समाहित का वर्णन किया है परन्तु उसका सम्बन्ध रससम्बन्धी किसी मान्यता से कथमपि नहीं है। उनके अनुसार उपमेयोपमान की सादृश्यविवक्षा में उपमेय का ताद्रूप्य ही समाहित है।[७] पूर्वानुभव की तीव्र अनुभूति में यहाँ

---

१. ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः।। का० अ०, ३/७

२. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।। का० अ०, ४/५

३. समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः।। का० अ०, ३/१०

४. किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्।।का० आ०, २/२९८

५. मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं, घनगर्जितम्।। वही, २/२९९

६. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्।। का० सा० सं०, ४/७

७. यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम्। का० सू० वृ०, ४/३/२९

प्रस्तुत अन्य अधिकरण में मूर्त हो जाता है। उर्वशी की लता रूप में परिणति इसका उदाहरण है।

पर्यायोक्त

पर्यायोक्त का सर्वप्रथम उपलब्ध उल्लेख भामहकृत काव्यालङ्कार में मिलता है और जगन्नाथ तक इसके स्वरूप के सम्बन्ध में प्रायः मतैक्य ही रहा। भामह के अनुसार कवि द्वारा अभिलषितार्थ का प्रकारान्तर से अभिधान पर्यायोक्त है।[१] उदाहरण के रूप में शिशुपाल के प्रति कृष्ण के कथन को उद्धृत किया गया है। शिशुपाल द्वारा प्रस्तुत भोजन में विषादि की आशङ्का से कृष्ण भोजन के निषेध को स्पष्टतः न कहकर भङ्ग्यन्तर से, "हम ब्राह्मणों को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करते हैं," व्यक्त करते हैं।[२] इस प्रकार का प्रकारान्तरकथन इस अलङ्कार का प्राण है।

अन्य आचार्यों ने शब्दान्तर से इसी परिभाषा को स्वीकार किया। उद्भट के अनुसार वाच्यवाचक वृत्तियों से भिन्न प्रकारान्तर से किया गया अभिधान पर्यायोक्त है।[३] उन्होंने प्रतिपाद्य के प्रकाशन को 'अवगमात्मक' कहा है। ध्वन्यालोककार ने उसे ही व्यञ्जनात्मक कहा। मम्मट पर इस लक्षण का प्रभाव है।[४] विश्वनाथ[५] तथा जगन्नाथ[६] ने भी भामह और दण्डी[७] की शैली में इसका निरूपण किया है।

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

---

१. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। का० अ०, ३/८

२. उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा।
गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये।। का० अ०, ३/८-९

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। -का० सा० सं०, ४/६.

४. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। -का० प्र०, १०/११५.

५. पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। -सा० द०, १०/६०.

६. विवक्षितार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्।
-र० ग०, द्वितीय भाग, पृ० ५१८.

७. अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।। -का० आ० २/२९५

उदात्त

स्वभावोक्ति तथा भाविक अलङ्कार वस्तु के यथावद् वर्णनप्रसङ्ग में आते हैं जबकि उदात्त उसके समृद्धिमत् रूप को लेकर उपस्थित होता है।[१] यह स्वरूप भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों में इसी रूप में उपलब्ध होता है।

भामह ने उदात्त अलङ्कार का लक्षण नहीं दिया। अलङ्कारों की सामान्य गणना में इसके दो भेदों का उल्लेख है।[२] विवेचन स्थल पर भी दो पृथक् उदाहरणों का उपादान है।[३] द्वितीय उदाहरण से पूर्व उसके स्वरूप के विषय में एक कारिका में कहा गया है कि जो नाना रत्नादि से युक्त हो, वह उदात्त कहलाता है।[४] दण्डी ने इन दोनों भेदों का नामकरण किया–आशयमहत्त्व तथा अभ्युदयगौरव उदात्त। दोनों का समाहार ही उदात्त का लक्षण भी है।[५] उद्भट ने इस ऋद्धिमत् वस्तु के अप्राधान्य तथा अनतिविस्तार का भी उल्लेख किया।[६]

वामन और रुद्रट ने इस अलङ्कार का उल्लेख नहीं किया। कुन्तक ने ऊर्जस्वि आदि की सरणि में ही इस अलङ्कार का भी खण्डन किया परन्तु मम्मट इन प्रश्नों का समाधान किये विना काव्यप्रकाश में इसका उल्लेख करते हैं।[७]

श्लिष्ट (श्लेष)

गुण, क्रिया और नाम के आधार पर उपमानोपमेय की तत्त्वसाधना (तादात्म्य) यदि युगपत्, एक ही शब्द से अभिव्यक्त हो तो भामह के

---

१. स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद् वस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मनः उदात्तस्यावसरः।–अ० स०, पृ० १८३-८४

२. द्विप्रकारमुदात्तं च . . . .। का० अ०, ३/१.

३. वही, ३/११, १३.

४. नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते।–वही, ३/१२

५. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।–का० आ०, २/३००.

६. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्।।–का० सा० सं० ४/८.

७. उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्।–का० प्र०, १०/११५.

अनुसार वहाँ शिलष्ट अलङ्कार होता है।[१] रूपक में यह साम्य युगपत् वाच्य नहीं होता। शब्द और अर्थ का यह श्लेष ही इसका प्राण है और रूपक से इसका विभेदक भी।[२] दण्डी ने इसी सरणि में अनेकार्थ परन्तु एकरूपान्वित वचन को श्लिष्ट कहा[३] परन्तु इसके भेद विस्तार में उनका भामह से मतभेद स्पष्ट है।

उद्‌भट का श्लेषनिरूपण इस दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक है, जो एक प्रयत्नोच्चार्य शब्द से अनेक अर्थों के युगपत् निबन्धन में चरितार्थ होता है।[४] व्याकरणसिद्धान्त का अनुसरण करते हुए वे अनेकार्थक शब्द में पृथक्-पृथक् शब्दों का सत्त्व मानते हैं क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म एक बार विरमित होकर पुनः प्रवृत्त नहीं होते।[५] कहीं एकवत् प्रतीयमान दो समान शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थ होते हैं (यह अर्थश्लेष है), अन्यत्र स्वरादि भेद के कारण शब्द वस्तुतः भिन्न ही होता है।(यह शब्दश्लेष है)।

शिलष्ट का सहोक्ति, उपमा और रूपक से सम्बन्ध भामह ने स्वीकार किया था और इसी आधार पर श्लेष के तीन भेद भी उन्होंने प्रस्तुत किये थे।[६] दण्डी के अनुसार यह प्रायः सभी वक्रोक्तिमूलक अलङ्कारों में श्रीवृद्धि करता है।[७] काव्यादर्शकार ने श्लेष को अनेक अलङ्कारों का उपकारक माना।[८] इसी अनुकरण पर रुद्रट ने श्लेषमूलक अलङ्कारों का एक

---

१. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते।। -का०अ०, ३/१४.

२. लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः।। -वही, ३/१५.

३. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः। -का०आ०, २/३१०.

४. एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते।। -का०सा०सं०, ४/९

५. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

६. तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं मतम्। -का०अ०, ३/१७.

७. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। -का० आ०, २/३१३.

८. उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे।। -वही, २/३/३.

वर्ग बनाया।[१] उद्भट के अनुसार भी यह प्राय: अन्यान्य अलङ्कारों के साथ अवतीर्ण होता है परन्तु ऐसे स्थलों पर प्रधानता इसी की समझनी चाहिए।[२]

वामन ने भामह से सङ्केत लेकर[३] इसके लिए सर्वप्रथम श्लेष संज्ञा का व्यवहार किया। उनके श्लेष का स्वरूप भी भामह से प्रभावित है, केवल शब्दभेद करके उसे सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके अनुसार तन्त्र से प्रयोग होने पर धर्मों में तत्त्व का आरोप श्लेष है।[४] वृत्ति में धर्म को गुणक्रियादिरूप कहा गया है। तन्त्र शब्द सकृद् उच्चारण से अनेक अर्थों के बोध का वाचक है।[५] वामन ने इसके भेदों की ओर कोई सङ्केत नहीं किया।

अपह्नुति

निषेधमुखेन अभिव्यक्ति की विवक्षा अपह्नुति है। अलङ्कार के रूप में विकास से पूर्व यह धारणा भरत के मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण में निहित थी।[६] भामह के अनुसार उपमेय का अपह्नव होने में ही इस नाम की सार्थकता है। निषेध्य और विधीयमान में उपमानोपमेयसम्बन्ध भी होना चाहिए।[७] कुन्तक ने उत्प्रेक्षा को अपह्नुति का प्राण माना।[८] उद्भट ने भामह के लक्षण को ही यथावत् स्वीकार कर लिया।[९] वामन पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट है। वे तो समस्त अलङ्कारों की उपमामूलकता की प्रतिज्ञा ही

---

१. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशय: श्लेष:। – का०अ० (रु०), ७/९.

२. अतोनेनानवकाशत्वात् स्वविषये अलङ्कारान्तराण्यपोह्यन्ते तेषां विषयान्तरे सावकाशत्वात्। प्रतिहारेन्दुराज, का०सा०सं०, ४/१० पर ल०वृ०।

३. श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियतेऽभिधा। – का०आ०,३/१७.

४. स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष:। – का०सू०वृ०,४/३/७/.

५. उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोप:। तन्त्रप्रयोगे तन्त्रेणोच्चारणे सति। – वही, वृत्ति।

६. मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति:। – अ०भा०,पृ० ३२१.

७. अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्या: क्रियते चाभिधा यथा।। – का० आ०, ३/२१.

८. पूर्ववदुत्प्रेक्षामूलत्वमेव जीवितमस्या:। – व०जी० ३/४३ पर वृत्ति।

९. का०सा०सं० ५/३.

करके चले थे। समान वस्तु से अन्य वस्तु का अपलाप अपह्नुति है।[1] समान वस्तु का यह ताद्रूप्य वाक्यार्थनिष्ठ है, अतः पदार्थनिष्ठ रूपक में यह लक्षण संक्रान्त नहीं होता।[2]

दण्डी ने उपमापह्नुति (उपमा का एक भेद) के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी इस अलङ्कार का विवेचन किया। प्रस्तुत के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ का अवस्थापन अपह्नुति का लक्षण है।[3] निःसन्देह दण्डी की धारणा अधिक व्यापक है तथापि अधिकतर आचार्य भामह का ही अनुकरण करते रहे। भोज ने इसका सादृश्यवती और सादृश्यरहिता के रूप में विभाजन कर दोनों परम्पराओं का अनुमोदन किया।[4]

भामह और वामन दोनों ने इसके भेदों की ओर कोई सङ्केत नहीं किया। भेदविभाग की परम्परा दण्डी ने प्रारम्भ की थी। अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने भामहानुसारी अपह्नुतिधारणा का ही समर्थन किया। भेद-प्रपञ्च को भी उन्होंने मान्यता नहीं दी। वामन भी भामह के अधमर्ण हैं।

विशेषोक्ति

वैशिष्ट्यप्रतिपादन के निमित्त एक गुण के विगत हो जाने पर भी गुणान्तर का सद्भाव भामह के अनुसार विशेषोक्ति है।[5] यह विगत गुण ही काव्य का दृष्ट हेतु है। इसके अभाव में कोई अन्य गुण कार्योत्पत्ति में साधक होता है जिससे अभिधेय की वक्रता और प्रखर हो जाती है। उदाहरण के रूप में एकाकी कुसुमायुध के द्वारा त्रिलोक विजयरूपी कार्य के दृष्ट हेतु शरीरसत्त्व का शम्भु के द्वारा हरण हो जाने पर भी शक्तिसद्भावरूप गुणान्तर को उपस्थित किया गया है।[6]

---

१. समेन वस्तुनान्यापलापोऽपह्नुतिः। – का०सू०वृ०, ४/३/५.
२. वाक्यार्थयोस्तात्पर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम्। – वही, वृत्ति।
३. अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्। – का०आ०, २/३०४.
४. औपम्यवत्यनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते। – स०क०, ४/४१.
५. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा।। – का०अ०, ३/२३.
६. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्।। – वही, ३/२४.

काव्यप्रकाश[१] और साहित्यदर्पण[२] में भी विशेषोक्ति का यही उदाहरण है। गुणान्तर का सद्भाव उक्त रूप हो अथवा अनुक्त रूप इस आधार पर विश्वनाथ ने इसके दो भेदों की कल्पना की।[३] मम्मट अचिन्त्यरूप तीसरा भेद भी मानते हैं।[४]

उद्भट का लक्षण[५] भामह की व्याख्या ही है परन्तु अपनी सरलता और स्पष्टता के कारण वह अधिक समादृत हुआ। उनका शक्तिसामग्र्य भामह का यह विगत हेतु ही है जो कार्यसंपादन में अप्रभावी रहता है। दण्डी भी गुण, जाति, क्रियादिरूप इस हेतु के निष्फलत्वप्रतिपादन में विशेषोक्ति की सत्ता मानते हैं[६] परन्तु भामह कार्यसाधिका गुणान्तर संस्थिति को अनिवार्य मानते थे, दण्डी ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

उपमाप्रपञ्च के आग्रह में वामन विशेषोक्ति के स्वरूप को रूपक के निकट ले जाते हैं और इस बात को उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है।[७] एक गुण की हानि होने पर भी शेष गुणों के आधार पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साम्य की पुष्टि विशेषोक्ति है।[८] सिंहासनहीनता के अभाव में प्रस्तुत द्यूत और अप्रस्तुत राज्य में समानता इसके उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं।[९] रुय्यक[१०] और पण्डितराज[११] ने इसे रूपक का ही एक रूप माना।

१. का० प्र०, १०/१०८ की वृत्ति।
२. सा० द०, १०/६७ वृत्ति।
३. वही, १०/६७.
४. का०प्र०, १०/१०८ वृत्ति
५. यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातः तद्विशेषोक्तिरुच्यते।। का०सा०सं०, ५/४.
६. गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।।–का० आ०,२/३२३.
७. रूपकं चेदं प्रायेण।–का०सू०वृ०, ४/३/२३ की वृत्ति।
८. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः। का०सू०वृ०,४/३/२३.
९. द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।–वही, वृत्ति।
१०. या तु 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्तिर्लक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या। – अ०स०, पृ० १२८
११. तेन दृढ़ारोपरूपकमेवेदम्। न विशेषोक्तिः।–र०ग०, द्वितीय भाग, पृ० ५९६.

वामन की यह स्थापना मान्य नहीं हो सकी। भामह का विवेचन भी दुरूह होने के कारण व्याख्यासापेक्ष है। इनके व्याख्याता उद्भट ही ग्राह्य हुए।

विरोध

भामह के अनुसार वक्रता का आधान करने के लिए किसी गुण अथवा क्रियादि का विरुद्धत्वेन वर्णन विरोध अलङ्कार है।[1] निश्चय ही यह विरुद्ध कथन किसी विशेष उद्देश्य से होता है, अतः इसे वास्तविक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण में वाटिका की छाया से शीतल प्रदेश द्वारा शत्रुओं के तापन में विरोध स्पष्ट है।[2] उद्भट ने इस लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया।[3]

वामन ने भी इसी लक्षण को और अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया। विरुद्ध के समान आभास होना विरोध अलङ्कार है[4] परन्तु इनके उदाहरण को साहित्यदर्पण ने असङ्गति के प्रसङ्ग में उदाहृत किया है।[5] असङ्गति की कल्पना अब तक नहीं हुई थी।

भामह ने जिसे विरोध कहा, वामन ने उसका स्वरूप विरुद्धाभासत्व बताया। जयदेव ने इन दोनों ही को पृथक् अलङ्कार की मान्यता दी।[6] पण्डितराज ने विरोध को अनेक अलङ्कारों का बीजभूत माना।[7] भामह का विरोध ही उत्तरकालीन परम्परा में विरोधाभास के रूप में प्रसिद्ध हुआ, मम्मट और विश्वनाथ ने यद्यपि इसे 'विरोध' नाम से ही स्मरण किया। काव्यप्रकाश में इसके दस भेदों का भी उल्लेख है।

---

१. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्यथा।। -का०अ०,३/२५.

२. उपान्तरूढ़ोपवनच्छायाशीतापि भूरसौ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः।। -वही, ३/२६.

३. का० सा० सं० ५/६.

४. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। -का०सू०वृ०, ४/३/१२.

५. सा०द०, १०/६९ की वृत्ति।

६. -विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद्गुणद्रव्यक्रियादिषु। -च०आ०, ५/१४.
-श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता। -वही, ५/१५.

७. तत्रापि कार्यकारणादिबुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः।
तदालीढ़स्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाणः। -र० ग० द्वितीय भाग पृ० ५६३.

तुल्ययोगिता

गुणसामान्य की विवक्षा में न्यूनगुण पदार्थ का विशिष्टगुण पदार्थ के साथ समान कार्य-क्रिया-कारित्व तुल्ययोगिता है।[१] भामह के इस लक्षण में न्यून और विशिष्ट गुण से प्रस्तुत-अप्रस्तुत भाव गम्य हैं। उदाहरण में भी अप्रस्तुत शेष और हिमालय प्रस्तुत राजा के साथ महत्त्व, गुरुत्व और स्थिरत्व गुण प्रतिपादित करने के लिए चञ्चल पृथ्वी के धारण रूपी एक कार्य से सम्बद्ध हैं।[२] दण्डी ने इस लक्षण से निन्दा और स्तुति के भाव को जोड़ दिया। इस साम्यप्रतिपादन में प्रस्तुत की निन्दा अथवा स्तुति व्यंग्य होती है।[३] काव्यादर्श में तुल्ययोगोपमा नाम से उपमा का एक भेद भी स्वीकार किया गया था।[४]

वामन ने भामह के लक्षण को ही सूत्रायित किया। उनके अनुसार विशिष्ट के साथ (न्यून के) साम्य के लिए एक काल अथवा क्रिया से योग तुल्ययोगिता है।[५] उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण भी भामह की सरणि पर हैं[६] परन्तु इस अलङ्कार का वास्तविक स्वरूप और दीपक से इसका भेद वस्तुत: उद्भट से ही स्पष्ट हो पाया। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एकधर्माभिसम्बन्ध दीपक तथा प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों का सकृद्धर्मप्रतिपादन तुल्ययोगिता बना।[७]

अप्रस्तुतप्रशंसा

संस्कृत काव्यशास्त्र में अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप प्राय: निर्विवाद रहा

---

१. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता।। -का०अ०, ३/२७.

२. शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरव: स्थिरा:।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्।। -वही, ३/२८.

३. विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता।। -का० आ०, २/३३०.

४. वहीं, २/४८.

५. विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता। -का०सू०वृ०, ४/३/२६.

६. जलनिधिरशनामिमां वहति भुजङ्गविभुर्भवत् भुजश्च। -वही, वृत्ति

७. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वच:।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता।। -का०सा०सं०, ५/७.

है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भामह के काव्यालङ्कार में मिलता है। उनके अनुसार अप्राकरणिक (प्रकरण से अपेत) वस्त्वन्तर का कथन अप्रस्तुतप्रशंसा है।[१] उद्भट ने इस अप्रस्तुत कथन की सार्थकता प्रस्तुतार्थनिबन्धन में मानी।[२] मम्मट[३], विश्वनाथ[४] आदि ने उद्भट के लक्षण को ही अपने शब्दों में अनूदित किया। केवल दण्डी का अभिमत अन्य आचार्यों से कुछ भिन्न है। वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की स्तुति और निन्दा को उसका आधार मानते हैं[५] परन्तु परवर्ती काल में इस मान्यता को समर्थन नहीं मिला। रुद्रट ने इसे अन्योक्ति नाम दिया[६] जो हिन्दी काव्यशास्त्र में ग्राह्य हुआ।

वामन ने उपमेय की किञ्चिद् उक्ति होने पर उपमान के न्यास को अप्रस्तुतप्रशंसा माना।[७] वृत्ति में अप्रस्तुत के कथन में भी इस अलङ्कार की स्थिति मानी गयी है।[८] इस लक्षण पर भामह का प्रभाव स्पष्ट है। उद्भट में प्राप्य प्रस्तुतार्थनिबन्धन के विशेषण को यहाँ स्थान नहीं मिला। मम्मट ने इसके पाँच भेदों का भी उल्लेख किया।[९]

व्याजस्तुति

अत्यन्त गुणशाली वस्तु के साथ समानता दिखाने के लिए प्रस्तुत की निन्दामुखेन प्रशंसा व्याजस्तुति है।[१०] दण्डी[११] और वामन[१२] ने भी भामह के

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा।। -का०अ०, ३/२९.

२. . . . . . . अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी। -का०सा०सं०, ५/८.

३. का०प्र०,१०/९८.

४. सा०द०, १०/५८-५९.

५. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः। -का०आ०,२/३४०.

६. का०अ०(रु०), ८/७४.

७. उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासेऽप्रस्तुतप्रशंसा।
-का०सू०वृ०, ४/३/४.

८. अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा। -वही, वृत्ति।

९. का०प्र०, १०/९९.

१०. दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा।। -का०अ०, ३/३१.

११. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।
दोषाभासा गुणा एवं लभ्यन्ते ह्यत्र संनिधिम्।। -का०आ०, २/३४३.

१२. सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। का०सू०वृ०, ४/३/२४.

इसी लक्षण को मान्यता दी। वामन का लक्षण भामह से अधिक स्पष्ट है। परन्तु 'सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणत्व' रूप विशेषण अनावश्यक है। यह अलङ्कार के क्षेत्र को सीमित करता है। परवर्ती काल में इसके वैपरीत्य प्रशंसामुखेन निन्दा को भी इसके स्वरूप में जोड़ दिया गया।[१] दण्डी के टीकाकार नृसिंहदेव ने इन दोनों रूपों को दण्डी के लक्षण में घटाने का प्रयास किया।[२] यही दो इसके भेद हैं।

उद्‌भट के अनुसार इस अलङ्कार का सौन्दर्य एक अर्थ के वाच्यत्व और दूसरे के व्यंग्यत्व में निहित है।[३]

निदर्शना

सूर्य का मन्दप्रभ होकर अस्त हो जाना पुरुषों को अभ्युदय के पश्चात् पतन का बोध करवाता है।[४] यहाँ सूर्य की अस्तोन्मुखतारूप क्रिया पतनरूप विशिष्टार्थ की बोधिका है। यथा, इव, वति आदि के अभाव में सादृश्य वाच्य न होकर व्यंग्य है। एवं च भामह के अनुसार किसी क्रियाविशेष के द्वारा विशिष्टार्थव्यंग्यत्व ही निदर्शना है।[५] उद्‌भट ने इसी की व्याख्या प्रकारान्तर से की। उनके अनुसार यहाँ दो वस्तुओं का सम्भव अथवा असंभव सम्बन्ध उपमानोपमेयभाव में पर्यवसित होता है।[६] रुय्यक ने इसी अनुकरण पर इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव माना।[७]

---

१. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढ़िरन्यथा। -का०प्र०, १०/११२.

२. अत्र निन्दन्निव स्तौतीति कथनात् प्रत्ययादिव्यत्ययेन स्तुवन्निन्दतीति इत्यपि अर्थो बोध्यः तेन स्तुतिच्छलेन निन्दोक्तिरपि व्याजस्तुतिः।
-का०आ०पर कु०प्र०टीका पृ० २५९.

३. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता।। -का०सा०सं०, ५/९.

४. अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्।। -का०अ०, ३/३४.

५. क्रिययेव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना।। -वही, ३/३३.

६. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना।। -का०सा० सं०, ५/१०.

७. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।
-अ०स०, सूत्र २७.

दण्डी ने भामह के लक्षण में सत् अथवा असत् फल की कल्पना को भी जोड़ दिया।[1] परन्तु वामन ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया।[2] उनका उदाहरण भी भामह से प्रभावित है।[3]

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राय: सभी आचार्य एकमत रहे हैं। विवाद इसके उपमाभेदगतत्त्व अथवा स्वतन्त्र अलङ्कारत्व को लेकर है। दण्डी ने इस कल्पना को अन्योन्योपमा नाम से व्यपदिष्ट कर प्रथम मत का समर्थन किया है।[4] इससे पूर्व भामह उपमेयोपमान की पर्यायत: स्थिति के आधार पर[5] इसे स्वतन्त्र अलङ्कार मान चुके थे। वामन की परिभाषा भी शब्दभेद से यही है। उन्होंने पर्याय के स्थान पर क्रम शब्द का प्रयोग किया है। क्रम से उपमानत्व और उपमेयत्व का वर्णन उपमेयोपमा है।[6] उद्भट[7] और उनके वृत्तिकार प्रतिहारेन्दुराज[8] ने पक्षान्तर (उपमानोपमेय से व्यतिरिक्त तृतीय) हानि में इस अलङ्कार का वास्तव सौन्दर्य माना था। उत्तरकाल में पुन: जगन्नाथ ने तृतीय सदृशव्यवच्छेद को महत्त्व दिया।[9]

---

१. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित्तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम्।। -का०आ०, २/३४७

२. क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्। -का०सू०वृ०, ४/३/२०.

३. अत्युच्चपदाध्यास: पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत्।
आपाण्डुपतति पत्रं तयोरिदं बन्धनग्रन्थे। -वही, वृत्ति।

४. तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी।। -का०आ०,२/१८.

५. उपमेयोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदितम्।। -का०अ०,२/३७.

६. क्रमेणोपमेयोपमा। -का०सू०वृ०, ४/३/१५.

७. अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम्।। -का०सा०सं०, ५/१४.

८. नात्रोपमानोपमेयभावे तात्पर्यं किन्तु एतदेव द्वयमेवंविधं विद्यते न त्वदन्यदेतयो: सदृशं वस्त्वन्तरं विद्यत इति। -वही,वृति।

९. तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभाव-मापन्न्योरर्थयोस्सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा। र० ग०, द्वितीयभाग, पृ० ११८.

सहोक्ति

भामह के अनुसार विभिन्न वस्तुओं में समाश्रित परन्तु तुल्यकालिक दो क्रियाओं का एकपदेन कथन सहोक्ति अलङ्कार है।[१] 'कामियों की प्रीति के साथ रातें भी बढ़ रहीं हैं।'[२] यहाँ कामियों की प्रीति और रात्रि दोनों की वृद्धि का कथन तुल्यकालिक है तथा 'वृद्धिमायान्तिं' इस एक ही पद से किया गया है। दण्डी ने क्रिया के साथ-साथ गुण की अवधारणा को भी जोड़ दिया[३] परन्तु उद्‌भट और वामन ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। उद्‌भट ने तो भामह के लक्षण को ही उद्धृत कर दिया[४], वामन ने किञ्चित् शब्दभेद से उसे सूत्र रूप में प्रस्तुत किया।[५] उत्तरवर्ती काल में रुद्रट, कुन्तक, मम्मट, रुय्यक आदि में इसका और विकास हुआ। रुद्रट से इसके भेदों की कल्पना भी की जाने लगी।

परिवृत्ति

परिवृत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भामहकृत काव्यालङ्कार में उपलब्ध होता है। उनके अनुसार किसी वस्तु का त्याग करके अन्य विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति परिवृत्ति है, यदि वह अर्थान्तर से विशिष्ट हो।[६] भामह के इस अर्थान्तरन्यासवत्त्व विशेषण को किसी अन्य आचार्य ने अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया जबकि प्रथम विशेषता इसके स्वरूपविवेचन में प्रायः स्वीकृत रही। दण्डी ने इस वैशिष्ट्य को विनिमय कहा।[७]

उद्‌भट के विवेचन में भामह और दण्डी की विनिमयधारणा का ही विश्लेषण मिलता है। वस्तु का यह विनिमय सम, न्यून अथवा विशिष्ट रूप

---

१. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा।। -का०अ०,३/३९.

२. वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह। -वही, ३/४०.

३. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। -का०आ०, २/३५१.

४. का०सा०सं०, ५/१५.

५. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः। -का०सू०वृ०, ४/३/२८.

६. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा।। -का०अ०,३/४१.

७. अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिरसौ यथा। -का०आ०,२/३५१.

हो सकता है।[१] भामह और वामन के बीच आचार्यों का एक वर्ग उपमेयोपमा को परिवृत्ति मानने लगा था, सूत्रवृत्तिकार ने उल्लेखपूर्वक उनके मत का निरास किया है।[२] वामन के लक्षण पर भी उद्भट की शब्दावली का प्रभाव है। वे सम अथवा विसदृश के परिवर्तन को परिवृत्ति कहते हैं।[३]

उत्तरवर्ती आचार्यों पर उद्भट के लक्षण का ही प्रभाव रहा है। उनके भी मूल में भामह की स्थापना उपजीव्य बनी रही यद्यपि उनका अर्थान्तरन्यास विशेषण समादृत नहीं हो सका।

ससन्देह

उपमेय और उपमान में भेद अथवा अभेदरूपता का संशय ससन्देह है जो उपमेय की स्तुतिरूप उद्देश्य में पर्यवसित होता हैं।[४] उद्भट ने भी भामह के इस लक्षण को यथावत् ग्रहण किया[५] परन्तु उन्होंने इसके एक अन्य रूप का भी वर्णन किया जिसमें स्वयं कवि को सन्देह नहीं होता बल्कि वह दूसरों के संशय की सम्भावना करता है।[६]

वामन का लक्षण भामहानुसारी है।[७] रुय्यक से इसके स्वरूप में कविकल्पित चमत्कार को भी स्थान दिया जाने लगा[८] जिसे विश्वनाथ ने भी ग्रहण किया।[९] दण्डी ने इसे उपमाभेद में ही पर्यवसित माना था।[१०]

---

१. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित्परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत्परिवृत्तिरभाणि सा।। -का०सा०सं०, ५/१६.

२. इयमेव (उपमेयोपमा) परिवृत्तिरित्येके तन्निरासार्थमाह. . . . ।
-का०सू०वृ०, ४/३/१६ वृत्ति।

३. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः। -वही, ४/३/१६.

४. उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः सतुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा।। -का०अ०, ३/४३.

५. का०सा०सं०,६/२.

६. अलङ्कारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बन्धनम्।
असन्देहेऽपि सन्देहरूपं सन्देहं नाम तत्।। -वही,६/३.

७. उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः। का०सू०वृ०, ४/३/११.

८. प्रकृताप्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते सन्देहे सन्देहालङ्कारः। -अ०स०, पृ०४२-४३.

९. सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। -सा०द०, १०/३६.

१०. अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ। -का०आ०, २/३५८.

अनन्वय

उपमेयोपमा तृतीय सदृशव्यवच्छेदक है जबकि अनन्वय असादृश्यविवक्षा की भूमिका को लेकर उपस्थित होता है। किसी वस्तु की उसी के साथ उपमेयोपमानता अनन्वय है।[१] शब्दभेद से इसी लक्षण को वामनसहित[२] उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार कर लिया। दण्डी ने असाधारणोपमा के नाम से उपमा में इसका अन्तर्भाव किया[३] परन्तु यह प्रयास स्वीकृत नहीं हो सका। इसकी भेद कल्पना रसगङ्गाधर में की गयी।[४] वहाँ पूर्ण और लुप्त के रूप में इसके दो भेद गिनाये गये हैं।

संसृष्टि (उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव)

वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में यह निर्देश दिया था कि ये अलङ्कार शुद्ध अथवा मिश्र रूप में भी सर्वथा प्रयोगयोग्य हैं।[५] सौन्दर्यविधा की यह अवधारणा एकाधिक अलङ्कारों के एकत्र सन्निवेश की विविध प्रक्रियाओं पर विचार करती है। बहुलङ्कारयोग होने के कारण ही भामह उसे रत्नमाला की तरह वराविभूषा कहते हैं।[६] यह संसर्गसम्बन्ध है जिसे वामन ने परस्पर कार्यकारणभाव के रूप में देखा। एक अलङ्कार जब सहज ही दूसरे का कारण बनकर उपस्थित होता है, वहाँ संसृष्टि होती है।[७]

सूत्रवृत्ति में इसके दो भेदों–उपमारूपक और उत्पेक्षावयव का उल्लेख हुआ है[८] जबकि भामह ने इनका विवेचन स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में किया

---

१. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्।। -का०अ०, ३/४५.

२. एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः। -का०सू०वृ०, ४/३/१४.

३. आत्मनैवाभवत्तुल्यमित्यसाधारणोपमा। –का०आ०, २/३७.

४. स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद् द्विविधः।. . . . .। -र०ग०, द्वितीय भाग, पृ० १३३.

५. एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति. . . .। -का०सू०वृ०, ४/३/३० की वृत्ति।

६. वरा विभूषा संसृष्टिर्बहलङ्कारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा. . . . . .।। -का०अ०,३/४९.

७. अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः।
. . . . . संसृष्टिः संसर्गः सम्बन्ध इति। -का०सू०वृ०, ४/३/३० एवं वृत्ति।

८. तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ। -वही,४/३/३१.

था। उपमेयोपमान की तद्भावसाधना करते हुए उपमा का प्रयोग उपमारूपक है।[१] वामन ने संसृष्टि के इस रूप को रूपक के उपमाजन्यत्व में देखा।[२] रूपकतत्त्व की महत्ता होने के कारण दण्डी ने इसे रूपक का एक भेद माना।[३] इसके वामनसम्मत द्वितीय भेद उत्प्रेक्षावयव का समावेश दण्डी ने उत्प्रेक्षा में ही किया।[४] यहाँ भी उत्प्रेक्षातत्त्व ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। भामह इसके स्वरूप में श्लेष, उत्प्रेक्षा और रूपक का मिश्रण मानते हैं।[५] वामन थोड़े और उदार होकर उत्प्रेक्षा के हेतु रूप में अन्य किसी भी अलङ्कार के प्रयोग को उत्प्रेक्षावयव कहते हैं।[६] इनका विवेचन वस्तुतः भामह और दण्डी दोनों से ही अनुप्राणित है।

भामह की स्थापना का स्वागत नहीं हो सका। स्वयम् उनके व्याख्याता उद्भट ने भी इनका उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः संसृष्टि की कल्पना के बाद इनका पृथक्त्व समीचीन भी नहीं था। स्वयं भामह ही सभी अलङ्कारों के मिश्रण में इसकी सम्भावना कर चुके थे।[७] दूसरी ओर वामन के द्वारा भी 'अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वम्' में संसृष्टि मानकर उपमा-रूपक और उत्प्रेक्षावयव के रूप में ही इसके भेदों की स्वीकृति संकीर्णता की परिचायक है।

दण्डी ने इसके दो भेदों का उल्लेख अंगांगिभाव में अवस्थिति तथा तुल्यबलता के आधार पर किया।[८] बाद में ये दोनों क्रमशः सङ्कर और संसृष्टि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

१. उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयन्।
यां वदत्युपमामेतदुपमारूपकं यथा।। -का०अ०,३/३५.

२. उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम्। -का०सू०वृ०, ४/३/३२.

३. उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम्। -का०आ०, २/३५८.

४. उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च। -वही, २/३५९.

५. श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा।। -का०अ०, ३/४७.

६. उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः। -का०सू०वृ०, ४/३/३३.

७. अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा। -का०अ०, ३/५२.

८. अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः।। -का० आ०, २/३६०

भाविक

सुमेधा आचार्य भाविक को अलङ्कार मानते हैं।[१] वस्तुत: स्वरूप की दृष्टि से इसे प्रबन्धविषयक गुण भी कहा जा सकता है,[२] जहाँ क्रान्तदर्शी अपनी आर्ष दृष्टि से भूत और अनागत अर्थों को भी प्रत्यक्षवत् उपस्थित कर देता है।[३] यह काव्य का अनिवार्य धर्म भी है।[४] इसके गुणत्व और प्रबन्धविषयता पर तो दण्डी भामह से सहमत हैं ही[५] स्वरूप की दृष्टि से भी उनका वर्णन विसंवादी नहीं है। भाविक शब्द का सम्बन्ध भावमात्र से मानकर वे कविगत अभिप्राय की स्फुट अभिव्यक्ति में इस सौन्दर्य की इयत्ता मानते हैं।[६]

भामह ने उन तीन साधक उपादानों का भी उल्लेख किया है जो इस सौन्दर्य की प्रखरता और प्रभाविता के हेतु बनते हैं-अर्थ का वैचित्र्य, औदात्त्य तथा अद्भुतत्व, विषय की सुबोधता तथा शब्दों की स्पष्टता।[७] उद्भट ने विषय की सुबोधता का ग्रहण आवश्यक नहीं समझा।[८] सारसंग्रह में इसे प्रबन्धगुण भी नहीं कहा गया। दण्डी ने इसमें भावों की सम्प्रेषणीयता, विशेषणों की सार्थकता तथा उक्ति की भङ्गिमा पर बल दिया।[९]

मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ आदि के लक्षण भामह की सरणि में ही हैं। वामन, रुद्रट और जगन्नाथ ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया।

---

१. भाविकत्वं च निजगुरलङ्कारं सुमेधस:। -का० अ०, ३/४.
२. भाविकत्वमिति प्राहु: प्रबन्धविषयं गुणम्। -वही, ३/५३.
३. प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन:। -वही, ३/५३
४. अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्त्तमानमवीविशत्।। -अ०रा०, २/३४.
५. तद्भाविकमिति प्राहु: प्रबन्धविषयं गुणम्। -का०आ०, २/३६४
६. उक्तिक्रमबलाद्व्यक्तिर्गम्भीरस्यापि वस्तुन:।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदु:।। -वही, २/३६६.
७. चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथाया: स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते।। -का०अ०,३/५४.
८. अत्यद्भुता: स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्। -सा०द०,६/६.
९. का०आ०,२/३६४-६६.

आशी:

भामह से पूर्व आलङ्कारिकों का एक वर्ग सौहार्द अथवा अविरोध की उक्ति में आशी: को भी अलङ्कार मानता था।[1] भामह इसका विरोध नहीं करते परन्तु पूर्ण हृदय से उन्होंने इसे स्वीकार भी नहीं किया। उपलब्ध सम्पूर्ण परम्परा में केवल दण्डी ने ही स्वमत से अभिलषितार्थ की आशंसा में इसका निरूपण किया।[2] अन्य कोई आचार्य उनसे सहमत नहीं हो सका।

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति का प्रथम उपलब्ध स्रोत वामनकृत काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति है। इससे भी पूर्व इसका अस्तित्व था अवश्य। इसे मायोक्ति नाम से भी अभिहित किया जाता था, इसका सङ्केत भी यहीं उपलब्ध होता है।[3] स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दारूप व्याजस्तुति से भिन्न यह अलङ्कार असत्य कथन के द्वारा सत्य के गोपन में प्रकट होता है।[4] सात्त्विक भाव से हुए अश्रुपात में पुष्परज की कारणता को ढूँढना इसका उदाहरण है।[5] मम्मट आदि के लक्षण[6] शब्दत: भिन्न होकर भी स्वरूपत: वामनानुसारी ही हैं। रसगङ्गाधर में इसका उल्लेख नहीं है।

❑❑❑

---

१. आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च. . . . . .। -का०अ०,३/५५.

२. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा। -का०आ०,२/३५७.

३. . . . . . . यां मायोक्तिरित्याहु:। -का०सू०वृ०, ४/३/२५ की वृत्ति।

४. व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्ति:। -वही,४/३/२५.

५. शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्।। -वही, वृत्ति।

६. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। -का०प्र०,१०/११८.

सप्तम विमर्श

शब्दशुद्धिविवेक

आलोचना के इतिहास में भामह और वामन जिस समय अवतरित हुए उस समय काव्यचर्चा नाट्य से पृथक् अस्तित्व बना रही थी। रसादि जिन विषयों का नाट्यशास्त्र में प्रधान रूप से विवेचन होता था, काव्यशास्त्र में उनके पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं समझी गयी। अत: काव्यविवेचन का विषयक्षेत्र सीमित रह गया था। दूसरी तरफ काव्यगोष्ठियों के माध्यम से व्याकरण और न्याय जैसे विषय प्रचार के शिखर पर थे। स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हुए शास्त्र पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। भामहीय काव्यालङ्कार का पञ्चम और षष्ठ परिच्छेद इसका प्रमाण है। पञ्चम परिच्छेद में निरूपित न्यायविषयक शास्त्रवाद का काव्यसिद्धान्तों में विवेचन तो भामह के साथ ही समाप्त हो गया परन्तु व्याकरण के काव्यशास्त्र पर प्रभाव को बहुत बाद तक भी स्वीकार किया जाता रहा। आचार्य आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों को प्रथम विद्वान् और व्याकरण को समस्त विद्याओं का मूल कहा था। स्वयं भामह कवि के लिए व्याकरणार्णव का पारदृश्वा होना आवश्यक मानते हैं।[2] अतएव व्याकरणसंस्कार से हीन प्रयोगों में शब्दहीन अथवा असाधु इत्यादि दोषों की कल्पना की गयी[3] परन्तु काव्य में व्याकरण के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी भामह और

---

१. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा:। व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्।

-ध्व० आ०, उद्योत, १.

२. नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयङ्गम्यमलङ्कर्त्तुमयं जन:।। -का०अ०,६/३.

३. (क) शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु। -का०सू०वृ०, २/१/५.
(ख) सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्।
तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा।। -का०अ०,४/२२.

वामन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य ने अपने लक्षण ग्रन्थ में इस विवेचन को स्थान देने की आवश्यकता नहीं समझी। स्पष्टत: वे व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थों को ही इस विषय में प्रमाण मानते हैं।

इस समान विषय को इन दोनों ही आचार्यों ने स्वीकार किया अवश्य परन्तु उनके विवेचन में एक स्पष्ट अन्तर है। वामन के सौन्दर्यवाद का सार यद्यपि केवल पदरचना में समाहित नहीं किया जा सकता तथापि बन्ध में उज्ज्वलता अथवा नवीनता लाने के लिए शब्दों में कान्ति की स्थिति को वे निस्सन्देह अनिवार्य मानते हैं[1] अत: उनका विवेचन भी मुख्यत: कवियों के प्रयोगों की यथाशक्य व्युत्पत्ति दिखाने अथवा उनकी भ्रान्तियों के निराकरण तक सीमित रहा है परन्तु भामह के अनुसार दूसरी ओर, वक्रता ही काव्य का सर्वस्व है जिससे अर्थ में संस्कार आता है।[2] अत: प्रत्येक व्याकरणसम्मत शब्द अनिवार्यत: काव्य में भी चारुत्व का आधायक नहीं हो सकता। इसी वक्रताप्रधान काव्य में प्रयोगार्ह तथा प्रयोग के अयोग्य शब्दों का विवेचन काव्यालङ्कार के शब्दशुद्धिपरिच्छेद का उद्देश्य है।[3] हाँ, वामन ने काव्यसमय के अन्तर्गत जिन विषयों का उल्लेख किया है उन्हें अवश्य भामह के इस विवेचन के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि वामन व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के साधुत्वनिर्णय का प्रयास करते हैं जबकि भामह व्याकरणसिद्ध शब्दों के काव्य में प्रयोग की सम्भावना पर विचार करते हैं।

'श्रोत्रिय' शब्द से अण् प्रत्यय करने पर निष्पन्न कर्म या भावार्थक श्रौत्र शब्द व्याकरण की दृष्टि से साधु है परन्तु व्याकरण के अनतिप्रचलित नियमों से सिद्ध होने के कारण भामह इसे काव्यप्रयोग के योग्य नहीं

---

१. बन्धस्यौज्ज्वल्यं नाम यदसौ कान्तिरिति। यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।।
—का०सू०वृ०, ३/१/२५ की वृत्ति।

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।—का०अ०,२/८५.

३. वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते।।—वही, ६/२३.

मानते।[1] इसी प्रकार ग्राम्य और अपार्थक प्रयोगों का निषेध दोषप्रकरण में किया जा चुका है।[2] वैदिक प्रयोगों का भी लौकिक साहित्य में प्रयोग उचित नहीं।[3] दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रयोगों का उल्लेख है जो काव्यवक्रता को समृद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए रात और दिन के वाचक के रूप में तिष्ठद्गु और वहद्गु का प्रयोग लिया जा सकता है।[4] क्विप् प्रत्ययान्त तृतीया एकवचन और षष्ठी बहुवचन के बलभिदा, सुरुचाम्, विद्युताम् आदि प्रयोग इस दृष्टि से विशेष हैं।[5] इन्हीं विभक्ति-वचनों में यशस्, अम्भस् आदि असन्त शब्दों का प्रयोग भी विशेष आकर्षक है।[6] गुणवृद्धि की वैकल्पिक अवस्था में मार्जन्ति इत्यादि वृद्धिपक्ष का प्रयोग अधिक ग्राह्य है।[7] ताच्छील्यविषयक णिनि का प्रयोग तीनों लिङ्गों में शोभाधायक है[8] परन्तु तवर्ग और शकार की सन्धि श्रुतिकटु है।[9]

पाणिनि की प्रामाणिकता भामह ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है।[10] पाणिनि के अतिरिक्त अन्य ऐन्द्र, चान्द्र, कातन्त्र आदि व्याकरणसम्प्रदाय

---

१. श्रोत्रादिं न तु दुर्बोधम्. . . . . .।-का०अ०,६/२५.
(उपलब्ध संस्करणों में 'श्रोत्रादिं' पाठ उपलब्ध होता है। परन्तु यहाँ वस्तुतः इसके स्थान पर 'श्रौत्र' पाठ ही उपयुक्त है। यह रूप 'श्रोत्र' शब्द से घन् प्रत्यय करने पर 'तदधीते' इस अर्थ में निपतित श्रोत्रिय पद से पुनः 'श्रोत्रियस्य यलोपश्च' इस वार्त्तिक से अण् प्रत्यय तथा य लोप करने पर निष्पन्न हुआ है।)

२. ग्राम्यं न पिण्डीशूरादिं न डित्थादिमपार्थकम्।-वही, ६/२५.

३. . . . . . .न चापिच्छान्दसं वदेत्।-वही, ७/२७.

४. तिष्ठद्गु प्रभृतौ वाच्यौ नक्तंदिवसगोचरौ।
यथा विद्वानधीतेऽसौ तिष्ठद्गु च वहद्गु च।।-वही, ६/३५.

५. तृतीयैकवचः षष्ठ्यामामन्तं च वदेत्क्विपि।
यथोदितं बलभिदा सुरुचां विद्युतामिव।।-वही, ६/४०

६. असन्तमपि यद्वाक्यं तत्तथैव प्रयोजयेत्।
यथोच्यतेऽम्भसा भासा यशसामम्भसामिति।।-वही, ६/४।

७. वृद्धिपक्षं प्रयुञ्जीत सङ्क्रमेऽपि मृजेर्यथा।
मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्पबिन्दवः।।-वही, ६/३१.

८. लिङ्गत्रयोपपन्नं च ताच्छील्यविषयं णिनिम्।-वही, ६/४६.

९. न तवर्गं शकारेण क्वचित्संयोगिनं वदेत्।
यथैतच्छ्यामममाभाति वनं वनजलोचने।।-वही, ६/६०.

१०. श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्।-वही, ६/६३.

लोक में प्रतिष्ठित नहीं हैं, अतः इन तन्त्रों से निष्पन्न पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[1] अन्य सम्मानित कवियों का अनुसरण करके असाधु प्रयोग करने वाला कवि "अन्यसारस्वत" कहा जाता है, अतः स्वयं विचार करके प्रयोग की साधुता का निर्धारण करना चाहिए[2] परन्तु व्याकरणसम्मत होने पर भी गतिवाचक √हन् के समान अल्पप्रयुक्त पद का प्रयोग नहीं होना चाहिए।[3]

वार्तिक और इष्टियाँ भी समान रूप से आदरणीय हैं परन्तु योग-विभाग से निष्पन्न (केवल व्युत्पत्तिलभ्य) शब्दों का त्याग ही करना चाहिए।[4] योग (व्युत्पत्ति) की अपेक्षा रूढि (प्रवृत्ति) की बलवत्तरता भामह को भी अभीष्ट है। चारुत्वाधान की दृष्टि से ग्राह्य अन्य प्रयोगों में विशेष रूप से मेखला, माला और माया शब्दों से इनि और ठन् प्रत्ययों[5] तथा फल और बर्ह से इनच् प्रत्यय का प्रयोग[6] अभिमत है।

प्रमाणबोधक द्वयसच् और दघ्नच्[7] तथा इमनिच् प्रत्ययों का प्रयोग भी इष्ट है।[8] वामन के अनुसार "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा"[9] सूत्र से विधीयमान इमनिच् प्रत्यय केवल पृथ्वादिगण से ही होता है। मुग्ध और प्रौढ़ आदि शब्दों का इस गण में पाठ न होने के कारण मुग्धिमा तथा प्रौढ़िमा आदि

---

१. . . . . न तन्त्रान्तरसाधितम् . . . .। -वही, ६/२७.

२. मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्त्तते।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः।। -वही, ६/६.

३. नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसंमोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात्को हन्तिं गतिवाचिनम्।। -वही, ६/२९.

४. सिद्धो यश्चोपसंख्यानादिष्ट्या यश्चोपपादितः।
तभाद्रियेत प्रायेण न तु योगविभागजम्।। -वही, ६/२९

५. इनिः प्रयुक्तः प्रायेण तथा ठंश्च मनीषिभिः।
तत्रापि मेखलामालामायानां सुतरां मता।। वही, ६/५७

६. इमनिच्च फलबर्हाभ्यां फलिनो बर्हिणो यथा। -वही, ६/५६

७. द्वयसज्दघ्नचाविष्टौ प्रमाणविषयौ यथा।
जानुदघ्नी सरिन्नारीनितम्बद्वयसं सरः।। -वही, ६/५५

८. वदेदिमनिजन्तं च पटिमा लघिमा यथा।। -वही, ६/५४

९. अ० अ०, ५/१/१२२

प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते।[१] "तेन जयति" अर्थ में अक्ष और शास्त्र शब्द से ठक् प्रत्ययान्त आक्षिक और शास्त्रिक[२] शब्द तथा हितप्रकरण में 'सर्व' से ण प्रत्ययान्त 'सार्व' शब्द भी बनते हैं।[३] सार्व शब्द भामह को अत्यन्त प्रिय था, इसका प्रयोग उन्होंने मङ्गलाचरण में भी किया है जिसने उनके बौद्ध होने की एक लम्बी विवादपरम्परा को जन्म दिया। यहाँ इष्टि से 'छ' प्रत्यय होकर 'सर्वीय' रूप भी बनता है।[४] णिच् प्रत्यय का प्रयोग प्रायः सुन्दर लगता है[५], विशेष रूप से शबल आदि शब्दों से[६]। एक ही स्थान पर "गतो यातो हतो यथा" इत्यादि ओकारान्त पदों का बाहुल्य काव्यशोभा को नष्ट करता है।[७]

स्त्रीत्वविवक्षा में अण्णन्त शब्दों से ङीप् इष्ट है।[८] ज्ञापक और न्यासकार का समर्थन होने पर भी तृच् प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठी समास का निषेधक सूत्र "तृजकाभ्यां कर्त्तरि"[९] अधिक प्रबल है।[१०] यही बात ण्वुल् प्रत्यय के साथ भी है।[११] इन दोनों स्थलों पर समास नहीं करना चाहिए। द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में (यथा पञ्चराजी) तथा तत्पुरुष का नपुंसक में (यथा पुरुहूतसभम्) प्रयोगयोग्य है।[१२] वामन बहुव्रीहि के प्रत्यायक कर्मधारय अथवा कर्मधारय के प्रत्यायक बहुव्रीहि के प्रयोगों के

---

१. मुग्धादिष्विमनिज्मृग्यः। का०सू०वृ०, ५/२/५४
२. ठक् चापि तेन जयतीत्याक्षिकः शास्त्रिको यथा। का० अ०, ६/५२
३. हितप्रकरणे णं च सर्वशब्दात्प्रयुञ्जते।
४. ततश्छमिष्ट्या च यथा सार्वः सर्वीय इत्यपि।। -वही, ६/५३
५. एवं णिचः प्रयोगस्तु सर्वत्रालङ्कृतिः परा। -वही, ६/४६
६. शबलादिभ्यो नितरां भाति णिज्विहितो यथा।वही, ६/४४
७. नैकत्रौकारभूयस्त्वं गतो यातो हतो यथा। -वही, ६/६१
८. अण्णन्तादपि ङीबिष्टो लक्ष्मीः पौरन्दरी यथा। वही, ६/५१
९. अ० अ०, २/२/१५
१०. शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्।। -का० अ०, ६/३६
११. अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा। -वही, ६/३७
१२. पञ्चराजीति च यथा प्रयुञ्जीत द्विगुः स्त्रियाम्।
नपुंसकं तत्पुरुषं पुरुहूतसभं यथा।। -वही, ६/३८

यथासम्भव त्याग को ही उचित मानते हैं।[१] उदाहरणत: "अध्यासिततरु:" में पूर्वपद निष्ठा होने के कारण "अध्यासित: तरुर्येन" यह बहुव्रीहि विग्रह भी सम्भव है तथा "अध्यासितश्चासौ तरु:" इस कर्मधारय अर्थ की प्रतिपत्ति भी होती है। इस प्रकार के पदों का प्रयोग अर्थप्रत्यायन में सन्देह उत्पन्न करता है।

वामन ने काव्य के लिए सामान्यत: उपयोगी इस प्रकार के नियमों का संक्षेप एक अलग अध्याय में किया है। वे इसे 'काव्यसमय' संज्ञा देते हैं। सम्पूर्ण अधिकरण का नाम प्रायोगिक अधिकरण है जो इसके साथ शब्द - शुद्धि विवेचन में सङ्गतार्थ होता है। एक ही पद का द्विप्रयोग काव्य में नहीं होना चाहिए परन्तु वाच्य यदि अर्थान्तर में सङ्क्रान्त हो रहा हो तो द्वित्व उचित भी है।[२] "सन्त: सन्त: खला: खला:" इत्यादि स्थलों में द्वित्व स्वाभाविक ही लगता है। कामधेनु टीकाकार ने यहाँ "ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुष:" यह उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहाँ 'च' पद का द्वि: प्रयोग है। अर्धान्त स्थलों को छोड़कर सन्धिविधान एक पद के समान अनिवार्य रूप से करना चाहिए।[३] इसके साथ ही एक वाक्य श्लोकार्ध तक समाप्त हो जाना चाहिए।[४] पादान्त लघुवर्ण को भी छन्द में अनिवार्यत: गुरु प्राप्त नहीं होता।[५] चरण के प्रारम्भ में खलु आदि पदों का प्रयोग श्रुतिवैरस्यकारक है।[६] यथासम्भव इनका परित्याग ही करना चाहिए परन्तु बत और हन्त को इस सीमा से मुक्त रखा गया है।[७]

द्विरेफ, रोदर आदि लक्षणाशब्दों का सीमित प्रयोग वामन को अभिमत

---

१. न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर:। तेन विपर्ययो व्याख्यात:।
-का०सू०वृ०, ५/१/७-८

२. नैकं पदं द्वि:प्रयोज्यं प्रायेण। वही, ५/१/१

३. नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्। वही, ५/१/२

४. नार्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं न वाक्यम्। वही, ५/१/६

५. न पादान्तलघोर्गुरुत्वं च सर्वत्र। वही, ५/१/३

६. न पादादौ खल्वादय:। वही, ५/१/५

७. न पुनर्बतहन्तप्रभृतय:। वही, वृत्ति।

है, यदि ये लोक में बहुप्रचलित हो[१] परन्तु एक ही स्थान पर इनका अतिप्रयोग वर्जित है।[२] ऐसा ही नियम देशविशेष में प्रचलित पदों के लिए भी है।[३] गद्य में उद्गत आदि विषम वृत्तों को छोड़कर, जिनके मिश्रण से वृत्तगन्धि नामक गद्य उत्पन्न होता है, अपूर्ण वृत्त का प्रयोग शोभा का विघातक है।[४] दो निषेधों का प्रयोग विधि को प्रबल और संवेगी बनाता है।[५] स्तन आदि शब्द द्वित्वविशिष्ट होते हैं परन्तु जातिवाचक स्थलों में इनका एकवचनान्त प्रयोग भी उपपन्न हो सकता है।[६] "स्तनयोस्तरुणीजनस्य" के साथसाथ "स्त्रीणां चक्षुः" प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

निश्चय ही इन नियमों का सीधा सम्बन्ध पदरचना के सामान्य स्वरूप-निर्धारण से है। इसकी तुलना भामह के शब्दशुद्धि परिच्छेद के साथ की जा सकती है। विषय के क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित निरूपण के कारण यह काव्यालङ्कार के विवेचन से अधिक प्रभावी है तथा अपेक्षाकृत संक्षिप्त भी।

वामन ने शब्दशुद्धि विवेचन में केवल शब्दों की व्याकरणिक व्युत्पत्ति दिखायी है। भामह ने जो शब्दशुद्धि नामक अध्याय लिखा उसमें वे शब्दस्वरूप और स्फोट तथा अपोहवाद जैसे अनपेक्षित विषयों की चर्चा में पड़ गये। काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय विषयों के चयन का निषेध करने वाला आचार्य[७] आलोचना का ग्रन्थ लिखते हुए शास्त्र के सूक्ष्म और गम्भीर विषयों को स्पर्श करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाया। निश्चय ही

१. लक्षणाशब्दाश्च।
लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोज्याः।..........
अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः। वही, ५/१/१५ एवं वृत्ति
२. न तद्बाहुल्यमेकत्र। वही, ५/१/१६
३. अतिप्रयुक्तदेशभाषापदम्। वही, ५/१/१३
४. न गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः संवादात्। वही, ५/१/४
५. सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ। वही, ५/१/९
६. स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण। वही, ५/१/१७
७. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।। का० अ०, २/२०

कविता को इस दार्शनिक रुक्षता से पृथक् हृदयसंवेद्य मानते हुए भी वे काव्यालोचन को शास्त्रीय निकष पर कसने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर इससे इनके प्रखर पाण्डित्य की सूचना भी मिलती है। वामन की विद्वत्ता उनके व्यवस्थित और सुबद्ध विश्लेषण में प्रकट हुई है। एकाध स्थल पर उन्होंने भामह के मन्तव्य पर टिप्पणी भी की है। उदाहरणत: भामह ने "पुमान् स्त्रिया"[१] सूत्र के साक्ष्य से द्वन्द्व समास के सन्दर्भ में अवशिष्ट पुरुषवाचक इन्द्र, वरुण आदि शब्दों से ही उनके स्त्रीवाचक (पत्नीवाचक) अर्थ के बोध की व्यवस्था दी थी।[२] वामन ने इस उपपत्ति को अपाणिनीय बताया। 'रुद्रौ' पद के द्वारा वाच्य अर्थ में स्त्रीत्व और पुंस्त्वविशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।[३] दाम्पत्य अर्थ की सम्भावना नहीं है क्योंकि यहाँ "तल्लक्षणश्चेदेव विशेष:" की अनुवृत्ति आ रही है।

अनेक नये शब्द जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते, वामन के समय तक बड़ी संख्या में प्रयोग किये जाने लगे थे। उनके शास्त्रीय निर्वचन की सम्भावना नवीन प्रत्ययों की कल्पना करके ही प्रस्तुत की जा सकती थी। अतएव धातुगण को अपरिमित मानकर मिलि, क्लबि, क्षपि अदि धातुओं को कल्पित कर लिया गया जिसमें मिलति, विक्लबति आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।[४]

अनुदात्तेत् और ङित् धातु आत्मनेपदी कही जाती है।[५] परन्तु √चक्षिङ् में ये दोनों ही अनुबन्ध लगाये गये हैं।[६] दूसरी तरफ "लज्जालोलं वलन्ती" इत्यादि शिष्ट प्रयोगों में अनुदात्तेत् √वलि परस्मैपद में प्रयुक्त मिलती है। अत: ज्ञापक से अनुदात्तेत् अनुबन्ध के द्वारा विहित आत्मनेपद में अनित्यत्व की प्रतिति होती है।[७] √मार्ग से प्राप्त आत्मनेपद प्रयोग

१. अ० अ०, १/२/६७

२. सरूपशेषं तु पुमान् स्त्रिया यत्र च शिष्यते।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति।। का० अ०, ६/३२

३. रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्य:। का०सू०वृ०, ५/२/१

४. मिलिक्लबिक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वं धातुगणस्यासमाप्ते:। वही, ५/२/२

५. अनुदात्तङित आत्मनेपदम्। अ० अ०, १/३/१२

६. चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणम्। का०सू०वृ०, ५/२/४

७. वलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्। वही, ५/२/३

लक्षणहीन है, शिष्टप्रयुक्त होने के कारण इसके परस्मैपदी प्रयोग ही उचित हैं।[१] लोलमान, वेल्लमान आदि प्रयोग चानश् प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं[२] इन धातुओं के परस्मैपदी होने के कारण शानच् प्राप्त नहीं होता।

'ते' और 'मे' पद युष्मद् और अस्मद् शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी एकवचन के रूप हैं। 'त्वया' और 'मया' अर्थों में इन्हें निपात से सिद्ध मानना चाहिए।[३] "श्रुतं ते वचनं तस्य" तथा "वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे" इत्यादि स्थलों पर इनका शिष्टप्रयोग भी देखा जाता है। "राज्ञा तिरस्कृतः" इत्यादि स्थलों में परिभूत अथवा अपमानित के अर्थ में तिरस्कृत शब्द का प्रयोग यद्यपि व्याकरणसम्मत नहीं है क्योंकि "तिरोऽन्तर्धौ"[४] सूत्र से 'तिरः' शब्द की अन्तर्धान अर्थ में गतिसंज्ञा हो जाती है परन्तु 'परिभूत' के भी अन्तर्धान के सदृश होने के कारण केवल उपचार से उसे साधु कहा जा सकता है[५] अन्यथा अन्तर्धान के उचित अर्थ में तो इसका प्रयोग "लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम्" इत्यादि स्थलों में ही हुआ है।

'नैक' शब्द नञ् समास की प्रक्रिया से सिद्ध नहीं होता। 'न्' का लोप और नुट् का आगम होकर 'अनेक' रूप सिद्ध होता है परन्तु "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे"[६] इस सूत्र से सुप् की अनुवृत्ति होकर "सह सुपा"[७] से योगविभाग करके 'सुप्सुपा' समास की प्रक्रिया में 'नैक' शब्द को भी व्याकरण की परिधि में समेटा जा सकता है।[८] गमिगाम्यादि में पठित होने के कारण 'मधुपिपासु' इत्यादि में भी समासविधि सम्भव है।[९]

'त्र्यवयवा वली' इस विग्रह में 'त्रिवली' शब्द को यदि संज्ञावाचक

---

१. मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म। वही, ५/२/७
२. लोलमानादयश्चानशि। वही, ५/२/८
३. ते मे शब्दौ निपातेषु। वही, ५/२/१०
४. अ० अ०, १/४/७१
५. तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात्। का०सू०वृ०, ५/२/११
६. अ० अ०, २/१/२
७. वही, २/१/४
८. नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात्। का०सू०वृ०, ५/२/१२
९. मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात्। वही, ५/२/३

मान लिया जाये तो "दिक्संख्ये संज्ञायाम्"[१] से यहाँ समास हो सकता है।[२] असंज्ञापक्ष में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च"[३] सूत्र यहाँ घटित नहीं होता क्योंकि न तो यहाँ 'पञ्चकपाल:' इत्यादि के समान तद्धितार्थ विषय है, न 'पञ्चपात्रम्' इत्यादि के समान समाहार ही वाच्य हो सकता है क्योंकि ऐसा होने पर इसका एकवद्भाव होकर 'स नपुंसकम्'[४] से नपुंसकत्व प्राप्त होगा।

'बिम्बाधर:' समास भी शाकपार्थिवादि वार्त्तिक से मध्यमपदलोप मानकर ही सिद्ध हो सकता है।[५] इस परिस्थिति में इसका विग्रह 'बिम्बाकारोऽधर:' होगा। "उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्यप्रयोगे"[६] से 'अधर बिम्ब:' पद बनता है। 'आमूललोलम्' इत्यादि से अविहितलक्षणतत्पुरुष समास है। इस प्रकार के समास मयूरव्यंसक आदि गण में पठित होने के कारण होते हैं। 'आमूलसरसम्', 'विस्पष्टपटु' आदि में भी इसी प्रकार का समास प्राप्त होता है।[७]

पूरण प्रत्ययान्त से व्यतिरिक्त तद्धितान्त प्रत्यय का प्रयोग होने के कारण 'धान्यषष्ठम्', 'उञ्छषष्ठम्' आदि में षष्ठी तत्पुरुष का प्रतिषेध "पूरण गुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणे" से नहीं होता।[८] दूसरी ओर 'पत्रपीतिमा' 'पक्ष्माली पिङ्गलिमा' इत्यादि स्थलों में गुणवाचक होने के कारण यह निषेध प्राप्त होता है।[९] वामन के इस सूत्र पर विचार करते हुए कामधेनु टीकाकर गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल ने 'उत्तरपदार्थप्राधान्ये' इस

---

१ अ० अ०, २/१/५०
२. त्रिवलीशब्द: सिद्ध: संज्ञा चेत्। का०सू०वृ०, ५/२/१४
३. अ० अ०, २/१/५१
४. वही, २/४/१७
५. बिम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्। का०सू०वृ०, ५/२/१५
६. अ० अ०, २/१/५६
७. आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत्। का०सू०वृ०, ५/२/१६
८. अ० अ०, २/२/११
९. न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेध: पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात्। का०सू०वृ०, ५/२/१८

ज्ञापक से समासप्रतिषेध के अनित्यत्व की सम्भावना भी व्यक्त की है।[२]

अवयव-अवयवी में भेद अथवा अभेद पक्ष को मानकर अग्रहस्त अथवा हस्ताग्र आदि सभी प्रयोग सम्मत हो सकते हैं[३] परन्तु पूर्वनिपात सम्बन्धी यह अनित्यत्व सर्वत्र प्राप्त नहीं होता।[४] "अल्पाच्तरम्" वार्त्तिक के अनुसार लघ्वक्षर पूर्वनिपतित होता है अत: 'तृणकाष्ठम्' के स्थान पर 'काष्ठतृणम्' प्रयोग असम्मत है।

'शकिसहोश्च'[५] इस सूत्र से √शक् से यत्प्रत्ययान्त नंपुसक 'शक्यम्' पद विभिन्न लिङ्ग अथवा वचन के कर्माभिधान में भी प्रयुक्त हो सकता है।[६] इस सम्बन्ध में भाष्यकार का वचन भी प्रमाण है। उन्होंने पस्पशाह्निक में "शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्" प्रयोग किया है।[७] यहाँ स्त्र्यन्त क्षुत् के साथ नपुंसकान्त 'शक्यम्' का प्रयोग है।

'येनाङ्गविकार:'[८] सूत्र से अङ्गों की विकृति से जिस प्रकार काणत्वादि अङ्गहानि वाच्य होती है, उसी प्रकार त्रिलोचनादि स्थलों में अङ्गाधिक्य भी विकृति ही है।[८] अत: इस सूत्र से आधिक्य में भी तृतीया विभक्ति प्राप्त हो सकती है।

"आयुष: कृमिकीटानामलङ्कारणमल्पता" इत्यादि स्थलों में 'कृमिकीटानां" प्रयोग व्याकरणसम्मत नहीं है क्योंकि 'क्षुद्र जन्तव:'[९] सूत्र से ऐसे स्थलों में एकवद्भाव प्राप्त हो जाता है।[१०] शाकपार्थिवादि से मध्यमपदलोपी वृत्ति

---

१. पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन। वही, ५/२/१८

२. उत्तरपदार्थप्राधान्ये इति ज्ञापकादनित्य: षष्ठी समासप्रतिषेध इति केचित्। का०सू०वृ०, ५/२/१८ पर का० धे०

३. हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्। वही, ५/२/२०

४. पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्य:। वही, ५/२/२१

५. अ० अ०, ३/१/९९

६. शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचनस्यापि। का०सू०वृ०, ५/२/२३

७. म० भा०, पस्पशाह्निकम्।

८. अ० अ०, २/३/२०

९. अ० अ०, २/४/८

१०. न कृमिकीटानामित्येकवद्भावप्रसङ्गात्। का०सू०वृ०, ५/२/२५

सार्वत्रिक नहीं है, गणपाठ में अपठित होने के कारण वह भी वहाँ प्राप्त नहीं होती।[१] इसी प्रकार गवाश्वादि गण में उष्ट्रखरम्' पाठ होने के कारण उपलभ्यमान खरोष्ट्र प्रयोग अनुचित है।[२] पाणिनि के द्वारा इस प्रकार के प्रयोग के मूल में सम्भवत: अभ्यर्हितत्व की भावना ही रही होगी। उष्ट्र खर की अपेक्षा से पूर्वप्रयोगार्ह है।

गतिदीप्त्यादानार्थक √अस में लिट् लकार में 'आस' प्रयोग सिद्ध हो सकता है।[३] अस भुवि धातु से लिट् लकार में √अस् को भू भाव की प्राप्ति हो जाती है, अत: यह प्रयोग उपपन्न नहीं होता। 'युध्येत्' प्रयोग भी 'युधमात्मन इच्छेत्' इस अर्थ में √युध् से क्यच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[४] √युध् के आत्मनेपदी होने के कारण लिङ् लकार में यह शब्द सिद्ध नहीं होता।

'विरलायमान' प्रयोग असाधु है। यहाँ भृशादिगण में पठित न होने के कारण क्यङ् अथवा लोहितादिगण मे पठित न होने के कारण क्यष् प्रत्यय की सम्भावना नहीं है।[५] दूसरी ओर घातयित्वा' पद में णिच् प्रत्यय का प्रयोग व्याकरणसम्मत है, चुरादिगणीय धातुओं से स्वार्थिक णिच् प्राप्त होता है।[६]

√चर (चरट्) के टित् होने के कारण 'टिड्ढाऽण्०'[७] इत्यादि सूत्र से ङीप् की प्रवृत्ति होकर अनुचरी प्रभृति प्रयोग साधु है।[८] इसी प्रकार 'केसरालम्' इत्यादि पदों में केसर शब्द के उपपद रहने पर √अल से 'कर्मण्यण्'[९] सूत्र

---

१. न च मध्यमपदलोपी समासो युक्त:। तस्यासर्वविषयत्वात्।
वही, ५/२/२५ की वृत्ति।
२. न खरोष्ट्रावुष्ट्रखरमिति पाठात्। वही, ५/२/२६
३. आसेत्यसते:। वही, ५/२/२७
४. युध्येदिति युध: क्यचि। वही, ५/२/२८
५. विरलायमाने मलयमारुते इत्यादिषु क्यङ् निरूप्य:। भृशादिष्वपाठात्। नापि क्यष्। लोहितादिष्वपाठात्। का०सू०वृ०, ५/२/२९ की वृत्ति।
६. अहेतौ हन्तेर्णिच्चुरादिपाठात्। वही, ५/२/३०
७. अ० अ०, ४/१/१५
८. अनुचरीति चरेष्टित्त्वात्। का०सू०वृ०, ५/२/३१
९. अ० अ०, ३/२/१

से अण् प्रत्यय होकर[१], 'पत्रलम्' इत्यादि प्रयोगों में पत्र शब्द के उपपद होने पर √ला से 'अतोनुपसर्गे कः'[२] से क प्रत्यय होकर[३] तथा मूलविभुजादिगण में पठित होने के कारण क प्रत्यय होने पर 'महीध्र' आदि प्रयोग भी शास्त्रानुमत हैं।[४]

'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु'[५] इस सूत्र से ब्रह्म आदि पदों के उपपद रहने पर √हन् से भूतकाल के अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है। इससे 'ब्रह्महा' इत्यादि पद सिद्ध होते हैं। 'अरि' शब्द का इनमें परिगणन न होने कारण 'अरिहा' इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होते।[६] हन् परे न होने के कारण ब्रह्मविद्, वृत्रभिद् आदि पद भी इस सूत्र की सीमा में नहीं आते। 'क्विप् च'[७] सूत्र से क्विप् प्रत्यय और पुनः विदादि के साथ ब्रह्मादि शब्दों का षष्ठी तत्पुरुष समास करके ये प्रयोग सिद्ध किये जाते हैं।[८] महीधर आदि शब्दों की भी यही व्याख्या है।[९]

'प्रथने वावशब्दे'[१०] सूत्र से घन् प्रत्यय का विधान होने से 'गुण-विस्तारः' आदि पद सिद्ध होते हैं। उनके स्थान पर गुणविस्तरः, व्याक्षेपविस्तरः आदि प्रयोग अशुद्ध हैं।[११] भावार्थ में 'ऋदोरप्'[१२] सूत्र से अप् प्रत्यय करने पर 'अवतरः' शब्द सिद्ध होता है। 'अवेतृस्त्रोर्घञ्'[१३] में 'करणाधिकरणयोश्च'[१४]

१. केसरालमित्यलतेरणि। का०सू०वृ०, ५/२/३२
२. अ० अ०, ३/२/३
३. पत्रलमिति लातेः कः। का०सू०वृ०, ५/२/३३
४. महीध्रादयो मुलविभुजादिदर्शनात्। का०सू०वृ०, ५/२/३४
५. अ० अ०, ३/२/८७
६. ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहाद्यसिद्धिः। का०सू०वृ०, ५/२/३५
७. अ० अ०, ३/२/७६
८. ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या। का०सू०वृ०, ५/२/३६
९. तैर्महीधरादयो व्याख्याताः। वही, ५/२/३७
१०. अ० अ०, ३/३/३३
११. गुणविस्तरादयश्चिन्त्याः। का०सू०वृ०, ५/२/३९
१२. अ० अ०, ३/३/५७
१३. अ० अ०, ३/३/१२०
१४. वही, ३/३/११७

की अनुवृत्ति आ रही है अतः भाव अर्थ में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार 'हस्तादाने चेरस्तेये'[१] सूत्र से √चि से घञ् प्रत्यय की प्रवृत्ति होकर 'अपचायः' शब्द बनता है। इनके स्थान पर क्रमशः अवतारः और अपचयः प्रयोग असाधु हैं।[२]

भिदादिगण में गणित होने के कारण √शुभ से अङ् प्रत्यय सिद्ध है परन्तु ङित् होने के कारण गुणप्रतिषेध रोकने के लिए निपात की कल्पना करके शोभा पद सिद्ध किया जाता है।[३]

√ब्रू का 'आह' रूप लट् लकार में बनता है। इसे भूतकालिक बनाने के लिए साथ 'स्म' का प्रयोग आवश्यक है।[४]

शबल, कल्माष आदि शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में 'अन्यतो ङीष्'[५] इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होगा। इनके टाप् प्रत्ययान्त प्रयोग अशुद्ध हैं।[६] इसी प्रकार 'जानपद०'[७] आदि सूत्र से 'नीलादोषधौ' और 'प्राणिनि च' इन दो वार्तिकों की सहायता से कोकिला इत्यादि के विशेषणरूप नील शब्द से ङीप् होकर 'नीली' पद बनता है। टाबन्त 'नीला' पद दुष्प्रयुक्त है।[८]

'इतो मनुष्यजातेः'[९] तथा 'ऊङुतः'[१०] सूत्रों से इकारान्त तथा उकारान्त मनुष्यवाची शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है। वामन के अनुसार यहाँ मनुष्यवाचित्व लक्ष्यानुसार विवक्षित अथवा अविवक्षित भी हो सकता है।[११] 'सुतनु जहिहि मौनं पश्य पादानतं माम्' इत्यादि प्रयोगों में

---

१. अ० अ०, ३/३/४०
२. अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम्। का०सू०वृ०, ५/२/४०
३. शोभेति निपातनात्। वही, ५/२/४१
४. आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि। वही, ५/२/४४
५. अ० अ० ४/१/४०
६. शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः। का०सू०वृ०, ५/२/४५
७. अ० अ०, ४/१/४२
८. प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम्। का०सू०वृ०, ५/२/४६
९. अ० अ०, ४/१/६५
१०. वही, ४/१/६६
११. मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे। का०सू०वृ०, ५/२/४७

सुतनु शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में पहले ऊङ् प्रत्यय किया है, पुनः सम्बुद्धि में उसे ह्रस्व करके 'सुतनु' रूप सम्बोधन में सिद्ध होता है। 'वरतनुरथवाऽसौ नैव दृष्टा त्वया मे' यहाँ 'वरतनु' पद में स्त्रीत्वविवक्षा होने पर भी मनुष्यजाति की अविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय नहीं हुआ।

कार्तिक शब्द में 'कालाट्ठञ्'[१] से विधीयमान ठञ् प्रत्यय दुर्निरोध है, अतः 'कार्तिकिक' प्रयोग होना चाहिए।[२] कीर्तिकीय' प्रयोग अशुद्ध है। इसी प्रकार 'शार्वरम्' पद भी असाधु है।[३] यहाँ भी उसी नियम से ठञ् होकर शार्वरिक बनता है परन्तु 'शाश्वते प्रतिषेधः' इत्यादि स्थलों में वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त होने के कारण 'शाश्वत' पद साधु ही है यद्यपि सूत्रकार ने 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः'[४] सूत्र से शाश्वतिक पद का ही प्रयोग किया है।

राजवंश्य, सूर्यवंश्य आदि पद 'तत्र साधुः'[५] इस सूत्र से साधु अर्थ में यत्प्रत्यय करने पर ही सिद्ध होते हैं।[६] दिगादिगण में वंश शब्द के पठित होने पर भी तदन्तविधि के प्रतिषिद्ध होने के कारण वंश शब्दान्त से यत्प्रत्यय प्राप्त नहीं होता।[७]

विकार तथा अवयव अर्थ में 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः'[८] सूत्र से दारू शब्द से मयट् प्रत्यय होकर 'दारूमयम्' रूप प्राप्त होता है। सम्बन्ध-सामान्य की विवक्षा में भी 'वृद्धाच्छः'[९] सूत्र से छ प्रत्यय होकर 'दार्वीयम्' पद बनता है। 'दारवम्' शब्द प्रत्येक अवस्था में अशुद्ध है।[१०]

---

१. अ० अ०, ४/३/११
२. कार्तिकीय इति ठञ् दुर्धरः। का०सू०वृ०, ५/२/४९
३. शार्वरमिति च। वही, ५/२/५०
४. अ० अ०, २/४/९
५. वही, ४/४/९८ "शाश्वतमिति प्रयुक्ते"-का०सू०वृ०, ५/२/५१
६. राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति। का०सू०वृ०, ५/२/५२
७. भवार्थे पुनर्दिगादिपाठेऽपि वंशशब्दस्य वंशशब्दान्न यत्प्रत्ययः। तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। वही, ५/२/५२ की वृत्ति।
८. अ० अ०, ४/३/१४४
९. वही, ४/२/११४
१०. दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः। का०सू०वृ०, ५/२/५३

'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर औपम्य, सान्निध्य आदि पद सिद्ध हाते हैं।[१] परन्तु ष्यञ् प्रत्यय के षित् होने पर भी 'षिद्गौरादिभ्यश्च'[२] से प्राप्त ङीष् की प्रवृत्ति वैकल्पिक होती है[३] अत: सामग्र्यम्–मामग्री, वैदग्ध्यम्–वैदग्धी आदि दोनों पद सिद्ध होते हैं। व्रीहि आदि गण में धन्व शब्द के पठित होने के कारण इनि प्रत्यय के विधान से धन्वी पद की सिद्धि सम्भव है[४] परन्तु 'चतुरस्रशोभि' प्रयोग ताच्छील्यविषयक णिनि के प्रयोग से सिद्ध होता है[५], यहाँ इनि प्रत्यय अनुपपन्न है।

'सुप आत्मन: क्यच्'[६] इस सूत्र से 'कञ्चुकमात्मन इच्छति' इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय होकर 'कञ्चुकीय' पद निष्पन्न होता है[७] परन्तु यह उपपत्ति 'कञ्चुका येषां सन्ति' इस अर्थ में मत्वर्थीय छ प्रत्यय मानकर नहीं हो सकती। कौशिल, वासिल आदि पद भी 'घनिलचौ च'[८] सूत्र से इलच् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होते हैं।[९]

विनयादिगण में पठित होने के कारण स्वार्थिक ठक् प्रत्यय होकर मौक्तिकम् (नपुंसक) पद बनता है।[१०] स्वार्थिक प्रत्ययान्त प्रकृति के लिङ्ग अतिक्रमण में भाष्यकार का वचन प्रमाण है। इसी प्रकार प्रतिभा, प्रकृति, द्विता आदि शब्दों के प्रज्ञादिगण में पठित होने के कारण स्वार्थिक अण् प्रत्यय का विधान किया जा सकता है। इससे 'प्रातिभम्' आदि पद साधु सिद्ध होते हैं।[११]

---

१. औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत्। वही, ५/२/५५
२. अ० अ०, ४/१/४१
३. ष्यञ: षित्करणादीकारो बहुलम्। का०सू०वृ०, ५/२/५६
४. धन्वीति व्रीह्यादिपाठात्- वही, ५/२/५७
५. चतुरस्रशोभीति णिनौ। वही, ५/२/५८
६. अ० अ०, ३/१/८
७. कञ्चुकीया इति क्यचि। का०सू०वृ०, ५/२/५९
८. अ० अ०, ५/३/७९
९. कौशिलादय इलचि वर्णलोपात्। का०सू०वृ०, ५/२/६१
१०. मौक्तिकमिति विनयादिपाठात्। वही, ५/२/६२
११. प्रतिभादय: प्रज्ञादिषु। वही, ५/२/६३

प्रतियोगी की अपेक्षा में अतिशय वाचक तरप् और तमप् प्रत्यय होते हैं। इनका प्रयोग बौद्ध अथवा भावात्मक प्रतियोगी की अपेक्षा में भी किया जा सकता है।[१]

'सरजसम्' पद केवल अव्ययीभाव समास की सीमा में ही शुद्ध है।[२] यह वृत्ति 'अव्ययं विभक्ति०'[३] इत्यादि शास्त्र से प्राप्त होती है।

'रजसा सह वर्त्तते' इस अर्थ में बहुव्रीहि प्राप्त नहीं होता क्योंकि इस प्रक्रिया में 'सरजस्कम्' पद बनता है। 'धनुषश्च'[४] सूत्र से नित्य अनङ् होकर 'धृतधन्वन्' पद सिद्ध होता है अत: असंज्ञा अर्थ में सप्तमी विभक्ति में निष्पन्न 'धृतधनुषि' रूप अयुक्त है।[५] संज्ञा अर्थ में 'वा संज्ञायाम्'[६] से दोनों रूप प्राप्त होते हैं।

'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य:'[७] सूत्र से समासान्त इत् की प्राप्ति होती है परन्तु यहाँ 'दु:' का पाठ न होने के कारण 'दुर्गन्धि' पद सिद्ध नहीं होता।[८] 'सुदती', 'शिखरदति' आदि प्रयोग शुद्ध हैं।[९] 'अग्रान्तशुद्ध-शुभ्रवृषवराहेभ्यश्च'[१०] सूत्र में अनुक्तसमुच्चयार्थक चकार से 'सुदती' आदि में दतृ आदेश सम्भव हो सकता है। अपि च, ये शब्द योगरूढ़ हैं, अत: 'स्त्रियां संज्ञायाम्'[११] से वैकल्पिक दतृ आदेश की भी संभावना हो सकती है।[१२]

---

१. बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यतिशायनिका:। का०सू०वृ०, ५/२/६०
२. न सरजसमित्यनव्ययीभावे। वही, ५/२/६४
३. अ० अ०, २/१/६
४. अ० अ०, ५/४/१३२
५. न धृतधनुषीत्यसंज्ञायाम्। का०सू०वृ०, ५/२/६५
६. अ० अ०, ५/४/१३३
७. वही, ५/४/१३५
८. दुर्गन्धिपद इद् दुर्लभ:। का०सू०वृ०, ५/२/६६
९. सुदत्यादय: प्रतिविधेया:। वही, ५/२/६७
१०. अ० अ०, ५/४/१४५
११. वही, ५/४/१४३
१२. अग्रान्तादि सूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सुदत्यादिषु दत्रादेश इत्येके। अन्ये तु वर्णयन्ति। सुदत्यादयो स्त्र्यभिधायिनो योगरूढशब्दा। तेषु स्त्रियां संज्ञायामिति दत्रादेशो विकल्पेन सिद्ध एवेति। का०सू०वृ०, ५/२/६७ की वृत्ति।

तदन्तविधि के प्रतिषेध के कारण क्षतदृढ़ोरस् आदि बहुव्रीह्यन्त पदों में 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्'[१] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।[२] इसका विग्रह इस प्रकार होगा–दृढ़ञ्च तदुरः (कर्मधारय), क्षतं दृढ़ोरः यस्य (बहुव्रीहि)। बहुव्रीहि का चरमावयव दृढ़ोरः है, उरः नहीं। ''अवैहि' पद में वृद्धि अप्राप्य है, गुणपक्ष में निष्पन्न 'अवेहि' रूप ही उपयुक्त है।[३] √इण् से लोट् लकार मध्यम पुरुष में इहि रूप बनता है। अव और आ उपसर्ग होने पर अव+आ+इहि इस स्थिति में पहले अन्तरंग होने के कारण गुण होकर अव+एहि रूप बना। यहाँ 'एत्येधत्यूठ्सु'[६] इस सूत्र से स्वाङ्गवाची शब्दों के परे रहने पर सप्तमी का लुक् नहीं होता, अतः 'कण्ठेकालः' आदि के समान ही 'अपाङ्गेनेत्रा' आदि पद बनते हैं।[७]

'स्त्रियाः पुंवत्०'[८] इत्यादि सूत्र से प्रिय आदि शब्दों के परे रहते पुंवद्भाव का निषेध हो जाता है अतः 'शिलष्टप्रियः', 'विश्लिष्टकान्तः' आदि प्रयोग अशुद्ध हैं।[९] इनके स्थान पर 'शिलष्टाप्रियः', इत्यादि प्रयोग ही सम्मत हैं। परन्तु स्त्रीत्व की अविवक्षा में 'दृढ़भक्तिः' पद सिद्ध है।[१०] कामधेनु टीका में वृत्तिकार, गण व्याख्यानकार तथा न्यासकार के समर्थन से भी इसकी पुष्टि की गयी है।[११] भोजराज प्रियादिगण में कर्मसाधनरूप

---

१. अ० अ०, ५/४/१५१
२. क्षतदृढ़ोरस इति न कप् तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। का०सू०वृ०, ५/२/६८
३. अवैहीति वृद्धिरवद्या। वही, ५/२/६९
४. अ० अ०, ६/१/८९
५. वही, ६/१/९५
६. वही, ६/३/१२
७. अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्यः। का०सू०वृ०, ५/२/७०
८. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु। अ० अ०, ६/३/३४
९. नेष्टाः शिलष्टप्रियादयः पुंवद्भावप्रतिषेधात्। का०सू०वृ०, ५/२/७१
१०. दृढ़भक्तिरसौ सर्वत्र। वही, ५/२/७२
११. तथा चाह वृत्तिकारः। दृढ़भक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयमिति। गणव्याख्यानकारोऽपि, दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति।

भक्ति शब्द का ही पाठ मानते हैं, अतः भावसाधनरूप भक्ति शब्द से पुंवद्भाव सिद्ध होता ही है।[१]

'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य'[२] सूत्र से ह्रस्वविधान होने के कारण 'जम्बुलता' इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं।[३] मतुबन्त 'तिलकवती', 'कनकवती' इत्यादि प्रयोग अजिरादिगण में पठित माने जाने की अवस्था में ही निष्पन्न हो सकते हैं[४] अन्यथा 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्'[५] सूत्र से दीर्घत्व अपरिहार्य होगा।

'श्रुत्वा' अर्थ में प्रकृतिभेद से 'निशम्य' और 'निशमय्य' दोनों ही रूप साधु हैं।[६] दिवादिगणीय √शम् से ल्यप् प्रत्यय होकर निशम्य रूप बनता है। जबकि चुरादिगणीय 'शमो दर्शने' धातु से णिच् होकर निशमय्य। धातु के अणिजन्त होने के कारण ल्यप् प्रत्यय होकर 'संयम्य' और 'निशम्य' पद भी उपपन्न होते हैं।[७] णिजर्थ धातु में ही अन्तर्भुक्त होने के कारण यहाँ णिच् का विधान नहीं हो सकता। 'प्रपीय' शब्द 'पीङ् पाने' धातु से सिद्ध होता है।[८] पा पाने धातु से तो 'न ल्यपि' इस सूत्र से इत्व का प्रतिषेध होने से प्रपाय रूप बनता है। 'दूरयति' प्रयोग भी 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' नियम से बहुल ग्रहण के कारण शुद्ध है।[९]

न्यासकारोऽपि अदार्ढ्यनिवृत्तिपरे दृढ़शब्दस्य लिङ्गविशेषस्यानुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव तस्मादस्त्रीलिङ्गस्यैव दृढ़शब्दस्यायं इत्यभिप्रायः इति। वही, ५/२/७२ पर का० धे०

१. भोजराजस्त्वन्यथा समाधत्ते। भक्तौ च कर्मसाधनायामिति सूत्रे कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठाद्भवानीभक्तिरित्यादौ पुंवद्भावप्रतिषेधः। दृढ़भक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावे सिद्धे स्त्रीपूर्वपदत्वमेवेति। वही।

२. अ० अ०, ६/३/ ६१

३. जम्बुलतादयो ह्रस्वविधेः। का०सू०वृ०, ५/२/७३

४. तिलकादयोऽजिरादिषु। वही, ५/२/७४

५. अ० अ०, ६/३/११९

६. निशम्यनिशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात्। का०सू०वृ०, ५/२/७२

७. संयम्यनियम्य शब्दावणिजन्तत्वात्। वही, ५/२/७६

८. प्रपीयेति पीङ्। वही, ५/२/७७

९. दूरयतीति बहुलग्रहणात्। वही, ५/२/७८

शत्रन्त स्त्रीलिङ्ग विवक्षा में 'गच्छती' प्रभृति प्रयोग अशुद्ध हैं। यहाँ 'शप्श्यनोर्नित्यम्'[१] से नुम् का नित्यविधान प्राप्त है।[२] अतः 'गच्छन्ती' इत्यादि प्रयोग बनते हैं। 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य'[३] सूत्र से वैकल्पिक पुंवद्भाव की प्राप्ति होने के कारण गोप्त्रा पद साधु है।[४] अभावपक्ष में नुम् का विधान होकर 'गोप्तृणा' भी बनता है।

ज्ञानार्थक √विद् से 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'[५] सूत्र से लट् लकार में इट् आगम होकर वेदिष्यति रूप बनता है।'वेत्स्यसि' प्रयोग का साधुत्व पद विभाग करके निष्पन्न हो सकता है- वेत्सि+असि।[६] यहाँ 'असि निपात त्वम्' अर्थ का वाचक है।

शास्त्र लोकप्रसिद्ध शब्दों के साधुत्व का अनुशासन करता है। शास्त्र से असिद्ध शब्द भी अनादिकाल से प्रामाणिकों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण सिद्ध हैं। अतः आगमानुशासन से असिद्ध होकर भी 'कामयान' शब्द साधु है।[७] यहाँ 'आने मुक्'[८] से मुक् की प्राप्ति होकर 'कामयमान' प्रयोग बन रहा था।

सौहृद् और दौहृद् शब्द साधु, अतएव प्रयोगार्ह हैं। युवादिगण में पठित होने के कारण यहाँ 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्'[९] से अण् प्रत्यय होकर 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु'[१०] से हृद आदेश तथा आदिवृद्धि होकर भावार्थ में ये दोनों पद सिद्ध होते हैं।[११] अनुदात्तोपदिष्ट √रम् से 'नोदात्तोपदेशस्य

---

१. अ०अ०, ७/१/८१
२. गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम्। का०सू०वृ०, ५/२/७९
३. अ० अ०, ७/१/७४
४. मित्रेण गोप्त्रेति पुंवद्भावात्। का०सू०वृ०, ५/२/८०
५. अ० अ०, ७/२/३५
६. वेत्स्यसीति पदभङ्गात्। का०सू०वृ०, ५/२/८१
७. कामयानशब्दस्सिद्धो नादिश्चेत्। वही, ५/२/८२
८. अ० अ०, ७/२/८२
९. वही, ५/१/१३०
१०. वही, ६/३/५०
११. सौहृददौहृदशब्दावणि हृद्भावात्। का०सू०वृ०, ५/२/८३

मान्तस्यानचमे:'[१] सूत्र से वृद्धिप्रतिषेध न होने पर भी निपातन से उपरम, विरम आदि प्रयोग साधु हैं।[२]

'मन्दं मन्दम्' में 'नित्यं वीप्सयो:'[३], सूत्र से द्वित्व हुआ है। कर्मधारयवद्भाव होने पर विभक्तिलोप होकर 'मन्द मन्दम्' भी बनता है।[४]

'निद्राद्रुक्' पद अपभ्रष्ट है। एकाचो बशो भष् झषन्तस्यस्वधो:'[५] से भष्भाव की प्राप्ति होकर 'निद्राध्रुक्' प्रयोग सिद्ध होता है।[६]

'निष्पन्द' शब्द में षत्वविधायक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता।[७] कस्कादिगण में इसका पाठ निश्चित नहीं है अत: यह अशुद्ध ही है। परन्तु साहित्य में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग होता है। भवभूति जैसे कवियों और राजशेखर जेसे आचार्यों ने भी इसका प्रयोग किया है। अत: शिष्टप्रयुक्त होने के कारण इसे साधु ही माना जाना चाहिए। इसके विपरीत 'अङ्गुलि सङ्गः'[८] तथा 'अवन्तिसेन'[९] आदि शब्द षत्वहीन होने के कारण अशुद्ध हैं। दोनों शब्दों में क्रमश: 'समासेऽङ्गुले: सङ्गः'[१०] तथा 'सुषमादिषु च'[११] से षत्वविधान प्राप्त है।

'इन्द्रवाहन' प्रयोग सिद्ध है। केवल स्वस्वामिभाव होने के कारण यहाँ आहितत्व की अविवक्षा होने से 'वाहनमाहिताद्'[१२] सूत्र से णत्व प्राप्त नहीं होता।[१३]

---

१. अ०अ०, ७/३/३४
२. विरम इति निपातनात्। का०सू०वृ०, ५/२/८४
३. अ० अ०, ८/१/४
४. मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे। का०सू०वृ०, ५/२/८६
५. अ० अ०, ८/२/३७
६. न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्ते:। का०सू०वृ०, ५/२/८७
७. निष्पन्द इति षत्वं चिन्त्यम्। वही, ५/२/८८
८. नाङ्गुलिसङ्गः इति मूर्धन्यविधे:। - वही, ५/२/८९
९. तेनावन्तिसेनादय: प्रत्युक्ता:। वही. ५/२/९०
१०. अ० अ०, ८/३/८०
११. वही, ८/३/९९
१२. अ० अ०, ८/८/४
१३. का०सू०वृ०, ५/२/९१

अस्तु, वामन का यह विवेचन पर्याप्त व्यवस्थित और सन्तुलित है। साहित्य में प्रायः प्रयुक्त विवादास्पद शब्दों को उठाकर एक निष्पक्ष आलोचक की तरह उन पर विचार किया गया है। कालिदास की रचनाओं से भी बहुत से शब्द लिये गये हैं। इस सब विवेचन में आचार्य की सकारात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। यथाशक्य प्रयोगों के साधुत्वनिश्चयन का ही प्रयास है।'वेत्स्यसि' पद की सिद्धि इसका प्रमाण है। जो शब्द किसी स्थिति में सिद्ध नहीं हो सकते उन्हें अशुद्ध कहने में भी ग्रन्थकार को कोई संकोच नहीं है। विषय के क्रमबद्ध विश्लेषण के कारण यह अंश सही अर्थों में 'काव्य का व्याकरण' बन गया है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण की तरह विषय का सर्वाङ्ग विवेचन न तो सम्भव ही था, न उचित ही। शब्दसागर भीमाम्भः जलधि के समान दुस्तर है।[1] अतः समस्त विद्याओं का मध्यस्थ होने के कारण पाणिनिमत ही श्रद्धेय और प्रामाणिक है।[2] यह सब विवेचन भी उसी के अनुकरण पर हुआ है। इस सन्दर्भ में अननुदिष्ट शब्दों का इस दिशा में परीक्षण किया जाना चाहिए।[3]

वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति का निर्माण छात्र कवियों के दिशा-निर्देश के लिए किया था। दूसरी ओर इससे अन्य कवियों का अनुशासन भी हो सका। इस दृष्टि से भी शब्दशुद्धि का यह प्रकरण महत्त्वपूर्ण एवं पर्याप्त अपेक्षित है। उत्तरवर्ती काल में कविशिक्षाविषयक ग्रन्थों के प्रणयन में निःसन्देह आचार्यों को भामह और वामन के इस सन्दर्भ से प्रेरणा मिली होगी यद्यपि यथावत् रूप से किसी ने भी इस विवेचन को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया।

□□□

---

१. शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं, भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ। का० अ०, ६/६२

२. विद्यानां सततमपाश्रयोऽपरासां, तासूक्तान्न च विरुणद्धि कांश्चिदर्थान्। श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्, माध्यस्थ्याद् भवति न कस्यचित्प्रमाणम्।। वही, ६/६३

३. सदसन्तो मया शब्दा विवेच्यैवं निदर्शिताः।
अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम्।। का०सू०वृ०, ५/२/९१ पर वृत्ति के अनन्तर उपसंहारकारिका।

अष्टम विमर्श

निर्गलित

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रारम्भिक उपलब्ध ग्रन्थ समीक्षा के एक समृद्ध इतिहास की भूमिका को लेकर उपस्थित होते हैं। भामह के काव्यालङ्कार से ही यह सूचित होता है कि उस समय भारतीय काव्यशास्त्र व्याकरण, न्याय और मीमांसा के समकक्ष अपना स्थान बनाने के लिए समुद्यत था। काव्यसमीक्षा दो विभिन्न विरोधी धाराओं में प्रवाहित हो रही थी। भाववादी औदीच्य परम्परा के प्रथम उपलब्ध आचार्य भामह हैं और दाक्षिणात्य परम्परा के दण्डी परन्तु रीतिवादी दक्षिण भारतीय परम्परा वामन की काव्यसूत्रवृत्ति में ही अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुई है। अत एव इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से एक ओर इन दोनों परम्पराओं के संघर्ष से निरन्तर विकसित होते हुए समीक्षा के प्रतिमानों के सङ्केत उपलब्ध होते हैं तो दूसरी ओर भरत और भामह के मध्यवर्ती तिमिराच्छन्न अन्तराल में काव्यविषयक मान्यतायें क्या रही हैं, इसका भी परिचय प्राप्त होता है।

भामह और वामन के ग्रन्थ की मूल प्रेरणा में एक विशिष्ट अन्तर है। भामह विभिन्न आलोचकों के मतों का अवेक्षण करने के उपरान्त स्वबुद्धि से विचार करके आलोचना के सिद्धान्तों का विवेचन कर रहे हैं परन्तु उनकी सहज विवेचनापद्धति से दुरूह शास्त्रीय विषय भी आबालबोधक्षम हो गये हैं। वामन छात्रकवियों को सत्काव्य की शिक्षा देने हेतु काव्यालोचन की मूल और सामान्य विशिष्टताओं के विषय में बता रहे हैं तथापि उनके पाण्डित्य की प्रखरता ने विषय को शास्त्रीय बना दिया है।

काव्यसूत्रवृत्ति का उद्देश्य कविशिक्षा है जबकि भामह इसके साथ-साथ शास्त्र को भी प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वामन इस दृष्टि से दण्डी के अधिक निकट हैं। यही कारण है कि भामह ने अन्य शास्त्रों के समान

पुरुषार्थचतुष्टय को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्थिर किया। आगे चलकर विश्वनाथ ने काव्य से ही इस चतुर्वर्ग की सरसतया और सरलतया प्राप्ति का समर्थन किया। वामन के कीर्ति और प्रीति शब्द भी भामह से ही लिए हुए हैं परन्तु इनकी व्याख्या उनकी अपनी है। कामधेनु टीकाकार ने आनन्द और उपदेश दोनों को ही प्रीति में समाहित कर दिया। दोनों ही आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन अपने अपने युग और परम्परा के अनुरूप हैं तथा परवर्ती काल में किसी न किसी रूप में स्वीकृत होते रहे हैं।

काव्यहेतुओं के सम्बन्ध में भामह की उपजीव्यता निःसन्दिग्ध है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों के ही सङ्केत काव्यालङ्कार में सुलभ हैं। मम्मट के त्रितयवाद पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है। प्रतिभा को प्रधान हेतु मानने वालों को भी भामह के ग्रन्थ से ही सामग्री मिल सकती है। वामन उतने ग्राह्य नहीं हो पाये। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में जब आलोचना के प्रतिमान ही बदल गये तो वामन की प्रासङ्गिकता और भी कम हो गयी।

शब्दार्थयुगल को भिन्न विशेषणों के साथ दोनों ही आचार्यों ने अपने-अपने काव्यलक्षण में स्थान दिया है परन्तु सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से भामह अर्थोत्कर्ष को और वामन शब्दविन्यास को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। दोनों आचार्यों का विरोध इसी बिन्दु पर है। वामन के अनुसार शब्दार्थरूप यह शरीर निर्दोष और गुणवान् तथा सालङ्कार होकर ही उत्कर्ष को प्राप्त करता है, भामह के अनुसार अर्थगाम्भीर्य और न्यायसङ्गति का होना भी अनिवार्य है। काव्यालङ्कार में जो गौरव अलङ्कारों का है, सूत्रवृत्ति में वही स्थिति गुणात्मकधर्मविशिष्टता की है। भामह के अनुसार वक्रोक्तिमूलक अलङ्कार काव्य में चारुता का आधान करते हैं, वामन की प्रक्रिया में काव्यसौन्दर्य गुणविशिष्ट रीति से उत्पन्न होता है।

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्य का विभाजन उसके बाह्य स्वरूप को लेकर किया जाता था। मुख्य रूप से छन्दोहीनता और छन्दबद्धता को लेकर इसका गद्यपद्यात्मक विभाग प्रारम्भ से ही उपलब्ध होता है। इनमें से भी गद्य को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसके कथा और

आख्यायिका भेदों पर विस्तृत शास्त्रार्थ भामह और दण्डी के ग्रन्थों में मिलता है। मिश्रकाव्य गद्य और पद्य का मिश्रित रूप है। काव्यभेदों में ही दण्डी द्वारा इसकी स्वीकृति काव्यशास्त्र की नाट्यशास्त्र पर विजय है। दशरूपक अब काव्य का ही श्रेष्ठ अङ्ग बन गया था। वर्ण्यविषय के आधार पर काव्य का विभाजन सम्भवतः दण्डी की अपनी कल्पना थी। इसके अतिरिक्त भाषा के आधार पर किया गया वर्गीकरण अन्त तक भी किसी न किसी रूप में मान्य रहा। भामह के तीन भेद विश्वनाथ तक १६ की संख्या में पहुँचे यद्यपि रसध्वनिवाद की प्रतिष्ठा के बाद अन्तस्तत्त्व ध्वनि की दृष्टि से किये जाने वाले भेदों ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रकाव्य को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था।

काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों दोष, गुणरीति, अलङ्कार आदि का विवेचन अभी वस्तुनिष्ठ था। शब्दार्थमय काव्यशरीर में शोभा का आधान प्रथमतः दोषत्याग और पुनः गुणालङ्कारादान से होता है। दोषहान काव्य की प्रथम और अनिवार्य शर्त है। भरत और वामन जहाँ क्रमशः दोषों के मापदण्ड पर उनके विपरीतरूप गुणों अथवा गुणों के मापदण्ड पर उनके विपरीतरूप दोषों की सत्ता मानते हैं, वहाँ भामह काव्य के मापदण्ड पर गुण और दोष दोनों का स्वरूपनिर्धारण करते हैं। वामन के अनुसार दोष गुणों के विरोधी हैं परन्तु भामह के अनुसार काव्यत्व के विघातक हैं।

काव्य को शब्दार्थोभयनिष्ठ मान लेने पर उनके पदपदार्थ और वाक्यवाक्यार्थ भेदों की कल्पना भी प्रसङ्गसापेक्ष ही है। आगे चलकर गुणों को भी वामन ने शब्द और अर्थ दो प्रकार का कहा यद्यपि इन दोनों के परस्पर अत्यन्त श्लिष्ट होने के कारण अन्तपर्यन्त इनके पार्थक्य का निर्वाह कर पाना सहज नहीं है। यही कारण है कि वामन के कई दोष एक- दूसरे का सङ्क्रमण करते लक्षित होते हैं, तथापि यह वामन की अपनी स्थापना है जिसे परवर्ती काल में मम्मट और विश्वनाथ तक ने भी माना। भामह अर्थ को महत्त्व देकर भी ऐसा नहीं कह पाये।

भामह का दोषविवेचन एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ही सन्निवेशवैशिष्ट्य अथवा आश्रयसौन्दर्य के कारण सर्वप्रथम दोषों के

दोषाभाव अथवा परिस्थितिविशेष में गुण तक हो जाने का विधान किया है। वामन ने भी इनके स्थूल और सूक्ष्म रूप की ओर सङ्केत किया। यहाँ कम से कम चार स्थलों पर दोषों के अदोष हो जाने की बात कही गयी है। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने जो दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व का विभाग किया, उसका मूल भी इसी परिकल्पना में निहित है।

उपमा अलङ्कार के प्रसङ्ग में सात उपमादोषों का विवेचन भामह ने मेधावी नामक आचार्य के प्रमाण पर किया। वामन ने इनका समाहार ६ में कर दिया, विपर्यय का उल्लेख काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में नहीं है। दण्डी के अनुसार उपमान की अधिकता और न्यूनता तथा लिङ्ग और वचनभेद सामान्यत: सहृदय में उद्वेग उत्पन्न नहीं करते, अत: ये अनित्य दोष हैं।

दोष काव्य का स्वरूप नहीं, काव्यत्व से पूर्व की अनुवीक्षा है। काव्य का स्वरूपाधान वामन के अनुसार गुण और अलङ्कार से संस्कृत शब्दार्थ के द्वारा होता है परन्तु काव्य में स्थिति के आधार पर ये परस्पर भिन्न हैं। अलङ्कारों के विना काव्यत्व की सम्भावना नष्ट नहीं होती जबकि गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं। ये काव्यसर्वस्वभूता रीति के उपकारक हैं। वैदर्भी में सभी दशगुण रहते हैं, अत: वह श्रेष्ठ है। गौडी और पाञ्चाली इसकी तुलना में आंशिक गुणों से युक्त हैं। स्थान के आधार पर इनका नामकरण तत्तद्देश में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण किया गया है।

रीति का सम्बन्ध सामान्यत: काव्य के कलापक्ष से है परन्तु वामन का रीतितत्त्व केवल अभिव्यक्तिप्रकार न होकर भावसम्पदा को भी अपने में समाहित किये हुए है। रसप्रक्रिया और काव्यार्थबोध भी इसकी परिधि से बाहर नहीं। दूसरी ओर भामह गुण और रीति में कोई नियत सम्बन्ध स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि गुण का सम्बन्ध काव्यसामान्य से है और सत्य तो यह है कि भामह जब काव्य के वैदर्भ और गौड विभाजन को ही अर्थहीन मानते हैं तो फिर इस भेदविभाग के आधार खोजने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अलङ्कार परिच्छेद के प्ररम्भ में भामह ने प्रसाद, माधुर्य और ओज का

विवेचन किया जो मुख्यतः समास पर आधारित है। ध्वनिवादियों ने वामन के इन्हीं तीन तत्त्वों में समस्त दश काव्यगुणों को समेट दिया। यह वस्तुतः स्वाभाविक भी था। उत्तरवर्ती परम्परा में भेदविभाग की अपेक्षा भेदनियमन को अधिक महत्त्व दिया गया। मम्मट, विश्वनाथ आदि के प्रयास इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी ओर भामह ने तीन तत्त्वों का ही उल्लेख किया अवश्य, परन्तु वे स्वयम् इतने भर से सन्तुष्ट नहीं थे। काव्यालङ्कार में प्रकीर्ण रूप से भी उन्होंने अनेक स्थलों पर गुणों की ओर सङ्केत किया है।

पुनरपि कहा जा सकता है कि काव्यालङ्कार में प्रायः व्यवस्था का अभाव दिखाई देता है। वामन का ग्रन्थ इस दृष्टि से पर्याप्त क्रमबद्ध है। विषय का यथायुक्त विभाजन और वर्गीकृत प्रस्तुति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति की अपनी विशेषता है। यद्यपि उनकी अनेक स्थापनायें रसध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं हो पायीं। भामह के तीन गुण बाद में स्वीकृत हुए और वामन की रीतियाँ। भामह रीतियों के प्रसङ्ग में अधिक तात्त्विक होकर भी ग्राह्य नहीं हो पाये। हाँ, कुन्तक के रीतिविवेचन को उन्होंने अवश्य प्रभावित किया।

भामह का प्रस्थान जहाँ अलङ्कार ही को काव्य का सर्वस्व अथवा स्वरूपाधायक मानता है, वामन के सिद्धान्त में उनकी स्थिति घटकर गुणों के द्वारा सृष्ट सौन्दर्य के उत्कर्षाधान तक सीमित रह गयी परन्तु ऐसा कहते हुए उपमादि के अर्थ में सङ्कुचित अलङ्कार शब्द का ही ग्रहण किया जाता था। यही कारण है कि कुल ३८ अलङ्कारों का विवेचन करने वाले भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं जबकि ७० अथवा ८० अलङ्कारों का विवेचन करने वाले मम्मट-विश्वनाथ ध्वनि वा रस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। जहाँ तक अलङ्कारसामान्य के स्वरूप का प्रश्न है, परवर्ती परम्परा में वामन की स्थापना का पर्याप्त समादर हुआ। अन्त तक भी उन्हें काव्य का उत्कर्षक ही माना जाता रहा। भामह की वक्रता से प्रेरणा लेकर कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की।

वामन ने काँट-छाँट के बाद कुल ३१ अलङ्कारों को मान्यता दी।

इनमें से दो अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कार हैं, शेष उपमामूलक। अत एव स्वभावोक्ति आदि, जिनका सम्बन्ध उपमा से नहीं था, को वामन ने अलङ्कार ही नहीं माना। परन्तु इसकी अपेक्षा बाद में भामह से सङ्केत लेकर शब्द और अर्थ के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक लोकप्रिय हुआ। प्रवृत्ति और प्रयोग की दृष्टि से काव्यमात्र को उन्होंने वक्रोक्ति और स्वभावोक्तिरूप माना। दण्डी ने वक्रोक्ति के श्लेष द्वारा चमत्कृत होने की बात को और जोड़ दिया। रुद्रट ने स्वभावोक्ति को 'वास्तव' नाम दिया। इस समस्त चर्चा का उपसंहार करते हुए उन्होंने शब्द और अर्थ के रूप में विभाजन कर पुनः अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार उपभेदों में बाँटा।

वामन के ३१ अलङ्कार साक्षात् अथवा परम्परया उपमा से जुड़े हैं। इनमें से २६ अलङ्कार तो वही हैं जो भामह के काव्यालङ्कार में भी उपलब्ध होते हैं। समाहित अलङ्कार नाम्ना स्वीकृत होकर भी स्वरूप की दृष्टि से भिन्न हो गया है। भामह ने उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव के नाम से जो दो स्वतन्त्र अलङ्कार कल्पित किये थे, वामन ने उन्हें संसृष्टि के भेद मानकर व्याख्यायित किया। प्रतिवस्तूपमा को वामन ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना, भामह और दण्डी तक वह उपमा का ही एक भेद था। शेष दो व्याजोक्ति और वक्रोक्ति अलङ्कार के रूप में काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं। भामह ने वक्रोक्ति की स्तुति तो की थी परन्तु अलङ्कार के रूप में नहीं, प्रत्युत अलङ्कारत्व के नियामक के रूप में। स्वभावोक्ति को भी काव्यालङ्कारकार चारुत्वमूलक मानते हैं परन्तु वामन ने उपमा के आग्रह से इसके साथ-साथ भाविक, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि तथा पर्यायोक्त को भी अलङ्कार नहीं माना। आशीः का भामह ने परमतानुरोध से उल्लेख-भर किया है तथा हेतु, सूक्ष्म और लेश का खण्डन किया है। वामन ने इनमें से भी किसी को नहीं माना।

भामह और वामन इन दोनों आचार्यों ने, और केवल इन्हीं दोनों आचार्यों ने शब्दशुद्धि विषय का विवेचन किया परन्तु उनके दृष्टिकोण में एक स्पष्ट अन्तर है। वामन का सौन्दर्यवाद वस्तुनिष्ठ है जो पदबन्ध में

उज्ज्वलता अथवा नवीनता का आधान करने के लिए शब्दों में कान्ति की बात करता है, भामह के अनुसार दूसरी ओर वक्रता ही काव्य का सर्वस्व है, जिससे अर्थ में संस्कार आता है। वक्रताप्रधान काव्य में प्रयोगार्ह तथा अनुपयुक्त शब्दों का विवेचन काव्यालङ्कार के शब्दशुद्धि परिच्छेद का उद्देश्य है। वामन ने काव्यसमय के अन्तर्गत जिन विषयों का विवेचन किया है, उन्हें अवश्य भामह के इस विवेचन के समकक्ष रखा जा सकता है। उन्होंने काव्यसमय और शब्दशुद्धि को मिलाकर प्रायोगिक अधिकरण का निर्माण किया। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि वामन व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के साधुत्वनिर्णय का प्रयास करते हैं जबकि भामह व्याकरणसिद्ध शब्दों के काव्य में प्रयोग की सम्भावना पर विचार कर रहे हैं। पाणिनिव्याकरण में उनकी इतनी श्रद्धा है कि वे अन्य व्याकरणतन्त्रों से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग वर्ज्य मानते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य छात्रकवियों की काव्य में शब्दप्रयोगयोग्यता की सम्भावना का विस्तार करना ही होता है। उत्तरवर्ती काल में कविशिक्षाविषयक ग्रन्थों के प्रणयन में निस्सन्देह आचार्यों को भामह और वामन के इस सन्दर्भ से प्रेरणा मिली होगी यद्यपि यथावत् किसी ने इस विवेचन को स्थान नहीं दिया।

❑❑❑

अनुशीलित ग्रन्थ

संस्कृत ग्रन्थ–

अभिज्ञानशाकुन्तलम्–(राघवभट्ट की टीका सहित)–निर्णयसागर प्रैस, १९५८.

अलङ्कारकौस्तुभः–कवि कर्णपूर, संपा०–डा० रविशंकर नागर, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८१.

अलङ्कारप्रदीपः–विश्वेश्वर पण्डित, संपा०, विष्णुप्रसाद भण्डारी, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, काशी, १९२३.

अलङ्कारप्रस्थानविमर्शः–डा० लक्ष्मीनारायण सिंह आचार्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७१.

अलङ्कारमुक्तावलो–श्री विश्वेश्वर पाण्डेय, संपा०–विष्णु प्रसाद भण्डारी, काशी, १९८४.

अलङ्कारशेखरः–केशवमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९२७.

अलङ्कारसर्वस्वम्–रुय्यक, (जयरथप्रणीत टीका सहित), संपा० दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८२.

–(सञ्जीवनी सहित)–संपा०–रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५.

अष्टाध्यायी–(कारिका सहित) (दो भाग)–चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६७.

एकावली–विद्याधर, बम्बई संस्कृत सीरीज, १९०३.

औचित्यविचारचर्चा–क्षेमेन्द्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४.

कविकौस्तुभः–रघुनाथ मनोहर, संपा०–फतेह सिंह, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६८.

कविराजमार्गः–नृतुङ्ग, संपा०–के० बी० पाठक, १८९८.

कामसूत्रम्–वात्स्यायन, (जयमंगला सहित), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८२.

काव्यप्रकाश:–मम्मट, संपा०–डा० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७७.

–आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९७०.

–(बालबोधिनी टीकोपेत), वामनझलकीकरकृत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५.

काव्यमीमांसा–राजशेखर, संपा०–पं० केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६५.

काव्यादर्श:–दण्डी, (प्रकाश संस्कृत हिन्दी व्यारव्योपेत), आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८.

–डा० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द लक्ष्मण दास, दिल्ली, १९७३.

–(हृदयङ्गमा टीका सहित),–संपा०–राव बहादुर एम० रङ्गाचार्य, ब्रह्मवादिन् प्रैस, १९१०.

काव्यालङ्कार:–भामह, संपा०–डा० देवेन्द्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२.

–(अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी सहित) पी० वी० नागनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, १९७०.

–पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९८१.

–डा० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, १९९४.

काव्यालङ्कार:– रुद्रट, (अंशुप्रभारव्य हिन्दी व्यारव्या सहित) डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६५.

काव्यालङ्कारकारिका–रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७७.

काव्यालङ्कारसारसंग्रह:–उद्भट, (राजानक तिलक की विवृति सहित), संपा०–के० एस० रामस्वामी शास्त्री, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३१.

–(लुघुवृत्ति सहित)–संपा०–डा० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६.

–(लघुवृत्ति सहित), एन० डी० बनहटी, बी० ओ० आर० आई०, पूना, १९२५.

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः–वामन, (कामधेनु सहित) श्रीकृष्ण सूरि, वाणी विलास मुद्रा यन्त्रालय, १९०९.

–श्री आशुबोध विद्याभूषण, श्री नित्यबोध विद्यारत्न, वाचस्पत्य यन्त्र, कलकत्ता, १९२२.

–(कामधेनु एवं हिन्दी व्यारव्या सहित), डा० बेचन झा, चौरवम्बा संस्कृत संस्थान, १९७६.

कालिदास ग्रन्थावली–रेवा प्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७६.

कुवलयानन्दः–अप्पय दीक्षित, संपा०–डा० भोलाशंकर व्यास, चौरवम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७६.

चन्द्रालोकः–जयदेव, चौरवम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६९.

चित्रमीमांसा–अप्पयदीक्षित (सुधा संस्कृत एवं भारती हिन्दी व्यारव्योपेत), संपा०–डा० जगदीश मिश्र, चौरवम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९७१.

ध्वन्यालोकः–आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७९.

–आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२.

–दुर्गाप्रसाद परब, मुंशीराम मनोहर लाल, १९८३.

नाट्यशास्त्रम्–भरत, पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, चौरवम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं० २०३७.

–डा० रविशंकर नागर, (३ भाग, अभिनवभारती सहित) परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली– अहमदाबाद।

प्रतापरुद्रयशोभूषणम्–विद्यानाथ, के० पी० त्रिवेदी, बम्बई संस्कृत सीरीज़, १९०९.

महाभाष्यम्–पतञ्जलि, (नवाह्निक) पं० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं २०२५.

–(पस्पशाह्निकम्) रमण कुमार शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८२.

यशस्तिलकचम्पूः–सोमदेव सूरि, संपा०–सुन्दरलाल शास्त्री, ठाकुर बाड़ी, वाराणसी, १९६०.

वक्रोक्तिजीवितम्–कुन्तक, संपा०–श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७७.

–सुशील कुमार डे, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६१.

वाक्यपदीयम्–भर्तृहरि, (ब्रह्मकाण्डम्), डा० सत्यकाम वर्मा, मुंशीराम मनोहर लाल, दिल्ली, १९७०.

वाग्भटालङ्कारः–वाग्भट (प्रथम), संपा०–डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५७.

विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्–वैंकटेश्वर यन्त्रालय, मुम्बई, संवत्, १९६९.

वृत्तरत्नाकरः–केदार भट्ट, भारत भारती प्रेस, दिल्ली, १९७१.

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी–भट्टोजिदीक्षित–श्री स्वामिनारायण मिश्र, श्रीकृष्णस्वरूप काव्यतीर्थ, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, १९७५.

–(चार भाग, बाल मनोरमा तत्त्वबोधिनी सहित) मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली.

व्यक्तिविवेकः–महिमभट्ट, (मधुसूदनीवृत्ति सहित)–मधुसूदन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी।

रसगङ्गाधरः–पण्डितराज जगन्नाथ (चन्द्रिका संस्कृत व्याख्योपेत), संपा०–श्री मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७०.

–(नागेशकृत टीका सहित)–निर्णय सागर, बम्बई, १९३०.

–(रसचन्द्रिका सहित) सं० संस्कृत वि० वि० प्रकाशन.

रसदीर्घिका–कवि विद्याराम, जिनविजय मुनि, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर, १९५९.

राजतरङ्गिणी–कल्हण, संपा०–डा० रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६०.

शृङ्गारप्रकाशः–भोज, (३ भाग) कारोनेशन प्रैस, मैसूर
श्लोकवार्त्तिकम्–कुमारिल भट्ट, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८.
षड्दर्शनम्–जगदीश्वरानन्द सरस्वती, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९७५.
सरस्वतीकण्ठाभरणम्–भोज, संपा०–अनुन्दोराम बरूआ, पब्लिकेशन बोर्ड, असम, १९६९.
साहित्यदर्पणः–विश्वनाथ (विमलाख्यया व्याख्यया विभूषितः), शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९७७.
साहित्यसुधासिन्धुः–विश्वनाथ देव, संपा०–डा० राम प्रताप, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७८.
हर्षचरितम्–बाणभट्ट, पं० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७२.

हिन्दी ग्रन्थ–

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग–रामलाल वर्मा, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, १९५९.
अरस्तु का काव्यशास्त्र–डा० नगेन्द्र, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०३१.
अलङ्कारधारणा–विकास और विश्लेषण–डा० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२.
अलङ्कार मीमांसा–डा० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७०.
अलङ्कार–मीमांसा–डा० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५.
अलङ्कारशास्त्र का इतिहास–डा० कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ.
अलङ्कारशास्त्र का समन्वित इतिहास–डा० अनिरुद्ध जोशी, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८४.
अलङ्कारशास्त्र की परम्परा–डा० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा प्रकाशन, १९७०.

अलङ्कारानुशीलन–डा० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९७०.

अलङ्कारों का ऐतिहासिक विकास–डा० राजवंश सहाय हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७४.

अलङ्कारों का क्रमिक विकास–पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३.

अलङ्कारों का स्वरूपविकास–डा० ओमप्रकाश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७३.

आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन–डा० जयशङ्कर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८.

आचार्य राजशेखर–डा० श्यामा शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७१.

आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान–डा० नरेन्द्र देव वर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१.

आधुनिक हिन्दी तथा बंगला काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन–डा० इन्द्रनाथ चौधरी, रञ्जन प्रकाशन, आगरा, १९६७.

आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन–डा० मनोहर काले, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०, बम्बई, १९६३.

आनन्दवर्धन–डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२.

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन–डा० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२.

काव्यतत्त्वसमीक्षा–नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९५९.

काव्यदोष–डा० जनार्दनस्वरूप अग्रवाल, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७८.

काव्यदोषों का उद्भव और विकास–डा० बम्शम्भुदत्त झा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७६.

काव्यशास्त्र–(पं० जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ) संपा०–डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली.

काव्यशास्त्र–एक नव्य परिबोध–जयनारायण वर्मा, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, १९७७.

काव्यशास्त्र के परिदृश्य–डा० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, १९७५.

काव्यशास्त्र–मार्गदर्शन–कृष्णकुमार गोस्वामी–एस० ई०एस०एण्ड कम्पनी, दिल्ली, १९७९.

काव्यसमीक्षा–डा० विक्रमादित्य राय, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७.

काव्याङ्गप्रक्रिया–डा० शंकरदेव अवतरे, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, १९७७.

काव्यात्ममीमांसा–डा० जयमन्त मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४.

काशी की पाण्डित्यपरम्परा–आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८३.

जयदेव–आचार्य एवं नाटककार के रूप में–डा० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.

ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन–बच्चूलाल अवस्थी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२.

पाश्चात्य काव्यशास्त्र– सिद्धान्त और वाद–डा० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र–सिद्धान्त और वाद–राजकुमार कोहली, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना–नव आकलन–डा० गोपीवल्लभ नेमा, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली, १९८२.

भारतीय काव्यचिन्तन–राजेश्वर दयाल सक्सेना, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९.

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा–डा० नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं० २०१३.

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका–डा० नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, १९७६.

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त–डा०कृष्णदेव झारी, शारदा प्रकाशन, दिल्ली, १९८०.

भारतीय काव्यशास्त्र–परम्परा और सिद्धान्त–डा० हरिमोहन, आर्याना पब्लिशिंग हाउस.

भारतीय काव्यसमीक्षा में अलङ्कार सिद्धान्त–डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मैकमिलन, १९८०.

भारतीय काव्यसिद्धान्तों का सर्वेक्षण–डा० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, १९७६.

भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण–वाचस्पति गैरोला, संवर्त्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७.

भारतीय महाकाव्य की परम्परा–केशवराव मुसलगावंकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, सं० २०२६.

भारतीय साहित्यशास्त्र–गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई, १९६०.

भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार–डा० भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

महिमभट्ट–डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६८.

रसगङ्गाधर–एक समीक्षात्मक अध्ययन–चिन्मयी माहेश्वरी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,

रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन–डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६५.

रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष–डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९७८.

रामचरितमानस–तुलसीदास, गीता प्रैस, गोरखपुर, सं० २०३५.

शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र–डा० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, १९८०.

समीक्षाशास्त्र–डा० कृष्णलाल हंस, ग्रन्थम्, कानपुर, १९७५.

सरस्वतीकण्ठाभरण का अलङ्कारानुशीलन–डा० केदारनाथ शुक्ल, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, १९८३.

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास–पी० वी० काणे, अनु०–इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६.

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दो भाग)–सुशील कुमार डे, अनु०–श्री मायाराम शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३.

संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव–डा० अमरजीत कौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९७९.

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति–(लघुशोधप्रबन्ध) उपेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९७९.

संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन का योगदान–(शोध प्रबन्ध) श्रीमती आशा तिवारी, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९७६.

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास–युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०१९.

संस्कृत साहित्य का इतिहास–(द्वितीय भाग, शास्त्रखण्ड) आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७३.

संस्कृत साहित्य का इतिहास–(द्वितीय भाग), कन्हैया लाल पोद्दार, रा० वि० पो० स्मारक ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, १९३८.

संस्कृत साहित्य में मौलिकता एवं अनुहरण–डा० उमेशप्रसाद रस्तोगी, चौखम्बा विद्यापीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७२.

संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विकास–ब्रह्मानन्द शर्मा, गवर्नमैण्ट कालेज, अजमेर, १९६४.

साहित्य में क्ष त्र ज्ञ–डा० जयशङ्कर त्रिपाठी, अभिनव भारती इलाहाबाद, १९७५.

साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का समालोचनात्मक अध्ययन–मधुसूदन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८.

साहित्यशैली के सिद्धान्त–डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७१.

साहित्यानुशीलन–डा० राकेश गुप्त एवं डा० ऋषि कुमार चतुर्वेदी, सरस्वती प्रैस, १९७२.

सौन्दर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त–डा० सुरेन्द्र वारलिङ्गे, अनु० डा० मनोहर काले, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३.

हिन्दी अलङ्कार साहित्य–डा० ओम् प्रकाश, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली.
हिन्दी में शब्दालङ्कारविवेचन–डा० देशराज सिंह भाटी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९६९.

English books--

Abhinavagupta--An Historical and Philosophical study, (Vol. I), Dr. Kanti Chander Pandey, Chaukhamba Sanskrit series Office, 1963.

A Critical Study of Indian Poetics--Dr. Brahmanand Sharma, Unique Traders, Jaipur, 1978.

A History of Modern Criticism-- Renne wellen,

Ancient Indian Culture and Literature--Ed. Dr. Mohan Chand, Eastern Book Linkers, Delhi, 1980.

A Study of Alaṃkāras in Sanskrit mahākāvyas and Khaṇḍa Kāvyas—A.B. Sagrera, Bhartiya Vidya Prakashan, 1977.

Bhoja's Śṛngāra Prakāśa--Dr. V Rāghavan, Punarvas, madras, 1963.

Concept of Poetics-An Indian approach--Dr. Kāli Pāda giri, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1975.

Contribution of Kashmir to Sanskrit Poetics--K.S. Nagarajan, V.B.S & Sons, Banglore, 1970.

Contribution of Vidyādhara to Sanskrit Poetics--(Thesis) Savitri Gupta, Delhi, 1975.

Essays in Sanskrit Criticism--Prof. K. Krishnamoorthy, Karnatak University, Dharwar, 1974.

History of Classical Sanskrit Literature--M. krishnamacharier, Motilal Banarsi Das, 1970.

Indian kāvya Literature--(Vol.I), A. K. Wadekar, Motilal Banarśidas, 1972.

India--What can it teach us--maxmuller, Indian Ed. K.A. Nilkaṇtha Shastri.

Principals of Literary Criticism--Ed. R.C. Dwivedi, Moti Lal Banarsi Dass, 1969.

Sanskrit poetics--S.K. De, Firma K.L. M. Pvt. Ltd., 1976.

Some aspects of Literary Criticism is Sanskrit--A.Shankaran, Oriental books Reprint Corporation, Delhi, 1973.

Some Concepts of Alaṁkārsūtra--V. Rāghavan, Adyar Library, Adyar, 1942.

Some Problems of Sanskrit Poetics--S.K. De, Firma K. L. M. Pvt. Ltd., Calcutta, 1959.

Studies in Sanskrit Sāhityaśāstra--V.M. Kulkarni, B.L. Institute of Indology, Patna, 1983.

The concept of Riti and Guṇa in Sanskrit Poetics--P.C. Lahiri, University of Dacca, 1934.

Journals, Dictionaries --

All India Oriental Conference--Kuntaka's Conception of Gunas--Dr. Hardatt sharma, Proceedings of the Session, 6 Dec., 1930, Patna.

Vāman's contribution to Sanskrit Poetics--Dr. R. S. Jatly, Oct., 1969, Jadav Pur University, Calcutta.

संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति अलङ्कार का विकास–रमण कुमार शर्मा, सितम्बर, १९८२, जयपुर।

Indian Historical Quarterly--The Doctrine of Doṣa in Sanskrit Poetics--Prof. K.K. Krishnamoorthy, Part-20, 1944.

The gaudi Riti in theory and Practice--S.Bhattacharya, Vol. 3, 1927.

Journal of Bombay Branch of Asiatic Society--Bhāmaha the Nyāsa and Māgha--P.V. kane, 1969.

Journal of Royal Asiatic Society--Bhāmaha--Narsimhiengar, 1905.

The Calcutta oriental Journal-The Kāśikā and Kāvyā Laṃkār Sūtra--Malti Sen, Vol-I, march, 1934, No. 6.

प्रज्ञा–काशी हिन्दु विश्वविद्यालय पत्रिका.
–काव्यगुण–नवीन परिकल्पनायें–डा॰ राम कुंवर राय, अङ्क १५, भाग १, अक्तूबर, १९६९.
–काव्यगुण विवेचन–विश्वनाथ शर्मा पाण्डेय, अङ्क १०, भाग-१, नवम्बर, १९६४.

अमरकोश–(३ भाग)--अमरसिंह, संपा॰-पं॰ विश्वनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,

भारतीय साहित्यशास्त्र कोश–राजवंश सहाय हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३.

संस्कृत हिन्दी कोश–वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, १९७३.

□□□

भामहकृत काव्यालङ्कार तथा वामनकृत काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अपने युग में प्रतिष्ठित दो विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थ हैं। भामह कश्मीरी औदीच्य परम्परा के तथा वामन दक्षिण भारतीय परम्परा के प्रवक्ता हैं। इन दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से जहाँ एक ओर इन विरोधी सम्प्रदायों की मूल मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, दूसरी ओर इनकी पूर्ववर्ती समृद्ध शास्त्रपरम्परा के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सङ्केत प्राप्त होते हैं। इन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन किया उन्हें आज की समालोचनाप्रक्रिया में क्रमशः कण्टैण्ट्सवाद तथा फार्मवाद के समकक्ष रखा जा सकता है। इन दोनों ही समीक्षापद्धतियों के स्वरूपनिर्धारण और विकास-विश्लेषण में यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

ISBN : 81-86700-08-0-

विद्यानिधि प्रकाशन

प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता

डी-1061, गली नं० 10

(समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)

खजूरीखास, दिल्ली-110094